हजारीप्रसाद द्विवेदी
संकलित निबंध

संपादक
नामवर सिंह

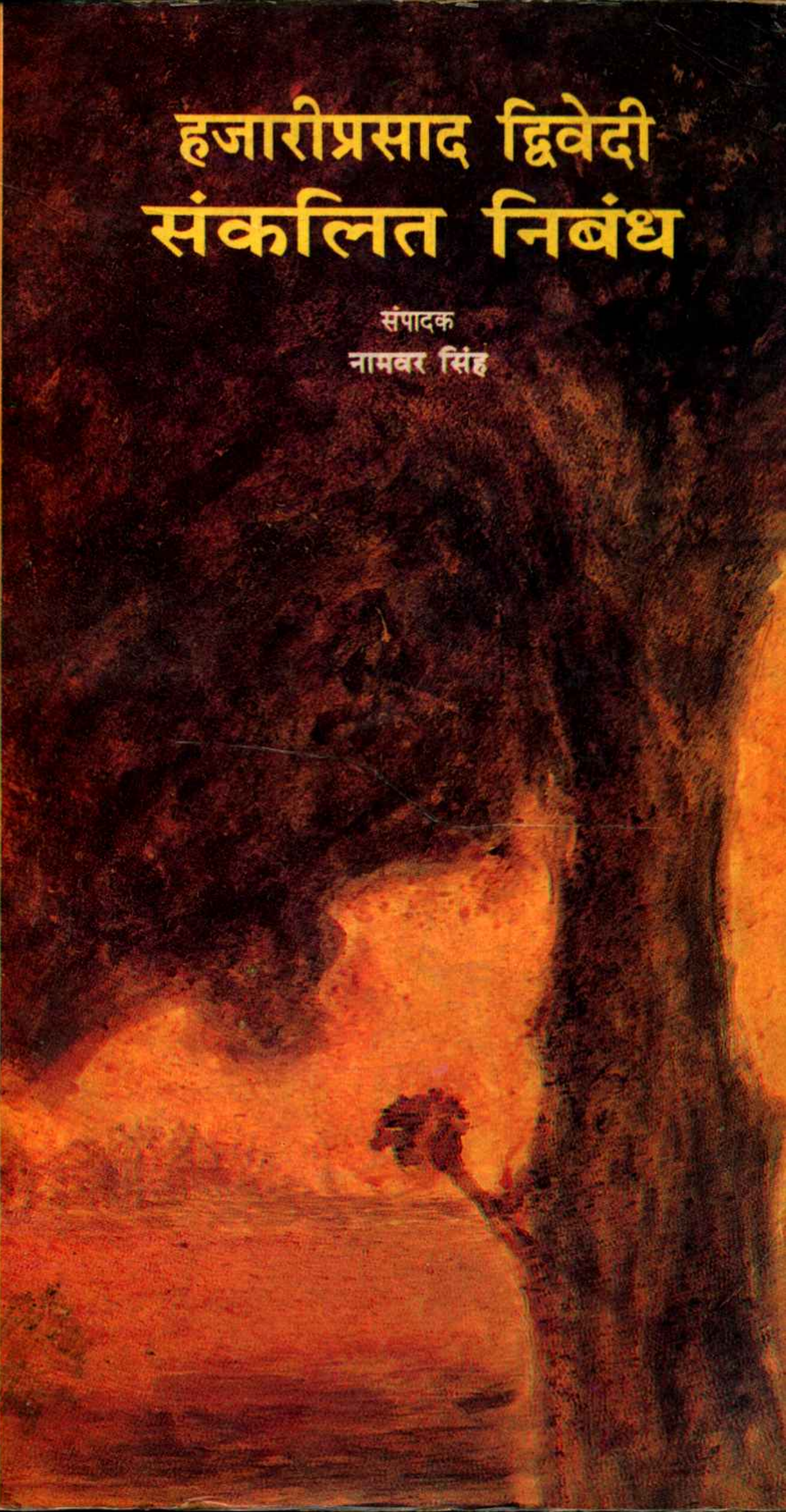

हजारीप्रसाद द्विवेदी
संकलित निबंध

अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

हजारीप्रसाद द्विवेदी
संकलित निबंध

संपादक
नामवर सिंह

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

आवरण चित्र : रवीन्द्रनाथ ठाकुर (मार्डर्न आर्ट गैलरी, नयी दिल्ली)

ISBN 81-237-0534-4

पहला संस्करण : 1993 (शक 1915)
© मुकुन्द द्विवेदी, 1990
Hazariprasad Dwivedi : Sankalit Nibandh (*Hindi*)

रु. **27.00**

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित।

मुद्रक : के.के. प्रिंटर्स दिल्ली-7

विषय-सूची

	भूमिका	सात
1.	अशोक के फूल	1
2.	शिरीष के फूल	7
3.	कुटज	10
4.	देवदारु	16
5.	आम फिर बौरा गये!	24
6.	वसन्त आ गया है	31
7.	नाखून क्यों बढ़ते है?	34
8.	जबकि दिमाग खाली है	39
9.	शव-साधना	41
10.	ठाकुरजी की बटोर	44
11.	बरसो भी	53
12.	क्या निराश हुआ जाय?	55
13	भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!	59
14.	एक कुत्ता और एक मैना	64
15.	ब्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी	68
16.	मेरी जन्मभूमि	71
17.	भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या	76
18.	मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है	84
19.	कबीर : एक विलक्षण व्यक्तित्व	97
20.	मेघदूत : एक पुरानी कहानी	111
21.	अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!	118

भूमिका

हजारीप्रसाद द्विवेदी काशी के पण्डितों की उस लुप्तप्राय परम्परा में अन्यतम हैं जिसे रामावतार शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन जैसे तेजस्वी पण्डितों ने बीसवीं शताब्दी तक जिलाए रखा और जिससे हिंदी चिन्तन-सृजन को पुनर्नवता प्राप्त हुई। जिसे आज हम 'आधुनिकता' कहते हैं वह इसी 'पुनर्नवता' का दूसरा नाम है और आश्चर्य नहीं कि इसमें किसी-किसी को तथाकथित 'उत्तर-आधुनिकता' का भी पूर्वाभास मिल जाय!

'पुनर्नवा' हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक उपन्यास का नाम ही नहीं, उनके समस्त रचनाकर्म का बीज शब्द है। वस्तुत: कालिदास के 'क्लेश: फलेन हि पुनर्नवतां विद्यत्ते' को द्विवेदीजी ने एक नये अर्थ के साथ पुनर्जीवित किया। कालिदास की अनुगूँज वैसे भी उनके रचना-कर्म में अक्सर सुनाई पड़ती है; किन्तु 'पुनर्नवा' में तो वे अपनी सर्जनात्मक वेदना को व्यक्त करने के लिए चन्द्रमौलि के रूप में कवि-कुल गुरु को अवतरित ही कर देते हैं और अपनी इस कल्प-सृष्टि के मुख से इन शब्दों में फूट पड़ते हैं :

"मेरे निजी मानस की विक्षुब्धता केवल मेरे ही मानस में अँटती है। संसार में सर्वत्र उसके किसी-न-किसी अंश का साम्य मिलता है। हर पेड़-पौधा कुछ-न-कुछ उसका आभास दे जाता है, पर एकत्र वे साम्य अगर कहीं ठीक-ठीक विद्यमान हैं तो केवल मेरे मन में ही। उसे बाहर की रूप-सामग्री के माध्यम से किसी प्रकार पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। शब्द उसे क्या प्रकट करेंगे!"

वैसे, यह एक प्रकार से 'हन्तैकत्र क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति की ही व्याख्या है, किन्तु यह व्याख्या भी कैसी अपूर्व है! स्वयं द्विवेदी जी को देखकर भी यही कहने को जी चाहता है: एक जगह कहीं भी तुम्हारा सदृश्य नहीं है। नहीं किसी में तेरी समता!

मूल कारण है मानस की वही विक्षुब्धता—अपूर्व सर्जनेच्छा, जिसका ठीक-ठीक साम्य अगर कहीं है तो स्वयं सर्जक के मन में। वैसे, अभिव्यंजना के लिए अनेक प्रकार के रूप सुलभ हैं: कविता के अलावा गद्य में कहानी है, उपन्यास है और निबंध भी। किन्तु इनमें से किसी बने-बनाए 'रूप' में वह सर्जनेच्छा द्विवेदीजी को अँटती नहीं दिखाई देती। या लिखने को उन्होंने चार-चार लम्बीं कथाएँ लिखीं जिन्हें उपन्यास कहकर छापा गया और 'अशोक के फूल' जैसी दर्जनों छोटी गद्यकृतियाँ भी, जिन्हें ललित निबंध के नाम से बखाना गया। लेकिन क्या वे ठीक-ठीक 'उपन्यास' या निबंध ही हैं? कितने ही निबंध ऐसे है जिनके अंदर कोई-न-कोई कहानी पिरोई हुई है और उपन्यास तो सभी ऐसे हैं जिनके बीच-बीच में भरे-पूरे निबंध रचते चले गये हैं। आखिर चिर परिचित विधाओं में

यह गड्डमड्ड क्यों? न उपन्यास ठीक-ठीक उपन्यास और न निबंध ठीक-ठीक निबंध! क्या यह भी कोई पुनर्नवता है– पुनर्नवा विधाओं की दिशा में एक प्रयास ?

स्वयं द्विवेदीजी का ऐसा कोई दावा नहीं है। अपने खास अंदाज़ में वे इन सबको 'गप्प' कहते हैं। उनके अभिन्न व्योमकेश शास्त्री का यह कहना ग़लत नहीं कि गप्प मारना कोई आपसे सीखे। व्योमकेश शास्त्री तो यह भी बताते हैं कि जब आप नीरस कामों से थक जाते हैं तो गप्पों की रचना में विश्राम पाते हैं। 'नीरसकाम' अर्थात् शोधपरक निबंध जैसे 'प्राचीन भारत के कला-विनोद' या 'नाथ सम्प्रदाय' । इनकी तुलना में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'अशोक के फूल' निश्चय ही 'गप्प' हैं। विडम्बना यह है कि आचार्यश्री जिन रचनाओं को 'गप्प' कहते हैं, वही सबसे अधिक हृद्य हैं और मूल्यवान भी। किसी-किसी निबंध में तो 'गप्प' वाला हिस्सा ही सारवान प्रतीत होता है, बाकी तो गुरु गंभीरता के बावजूद घिसा-पिटा ही लगता है, जैसे अर्थार्षवाक्' शीर्षक निबंध जो मूलत: एक भाषण है। अट्ठाइस पृष्ठों के इस लम्बे भाषण की आरंभिक भूमिका के दो पृष्ठों को छोड़कर बाकी छब्बीस पृष्ठ बहुत-कुछ घिसी-पिटी बातों से ही अटे पड़े हैं जिनमें द्विवेदी जी कहीं नहीं हैं। द्विवेदीजी दिखते हैं तो उस भूमिका में जहाँ वे अपने गावदीपन का बखान करने के लिए भूसुकु की ओट लेकर एक गप्प मारते हैं। विचित्र बात है कि इस मज़ाकिया गप्प में ही वे 'आर्षवाक्' से भिन्न 'अर्थार्षवाक्' जैसे गहन तत्त्व का संकेत भी दे जाते हैं जिसे सुनकर बौद्धदर्शन के पण्डितों को भी स्वीकार करना पड़ा कि इससे पहले उन्होंने यह शब्द न सुना था।

गरज़ कि द्विवेदीजी की अपनी विधा यह 'गप्प' ही है, 'गप्प' नहीं, कोरी गप्प। तत्सम नहीं, तद्भव। कुछ भिन्न अर्थ व्यंजक। कुछ कुछ 'कल्प' के निकट। शायद। स्वयं द्विवेजीजी ने कहीं इसका खुलासा नहीं किया। कहीं कहीं झलक जरूर दी। जैसे 'देवदारु' शीर्षक निबंध में। देवदारु की लकड़ी से भूत भगाने वाले पंडित जी की कहानी सुनाने के बाद सहसा गंभीर होकर द्विवेदीजी 'गप्प' की महिमा बखानने लगते हैं। शब्द इस प्रकार हैं: ''आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य 'मिथकीय' युग में रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था, वहाँ मिथकीय तत्त्वों से काम लेता था। मिथक—गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास हैं। आज भी क्या हम मिथकीय तत्त्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उसमें स्वच्छंद संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छंद विचरण करता है। आश्रय लेता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचानने वाले कलासमीक्षक कहलाते हैं। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते हैं। भूत तो सरसों में है। जो सत्य है, वह सर्जना शक्ति के सुनहरे पात्र में मुँह बंद किए ढँका ही रह जाता है। एक-पर-एक गप्पों की परतें जमती जा

रही हैं। सारी चमक सीपी की चमक में चाँदी देखने की तरह मन का अध्यास मात्र है। गप्प कहाँ नहीं है, क्या नहीं है?''

'मगर छोड़िए भी' कहकर द्विवेदीजी ने इस गंभीर तत्त्व विवेचन का उपसंहार कर दिया। लेकिन इस वक्तव्य को स्वयं द्विवेदीजी के रचना संसार पर लागू करें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि उनकी रचनाओं में गप्प कहाँ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि जो कुछ है सब गप्प ही है। आखिर 'गप्प क्या नहीं है' का और अर्थ क्या होगा? इस दृष्टि से 'अशोक के फूल' और 'शिरीष के फूल' तो गप्प हैं हीं, आम, देवदारु और कुटज भी गप्प ही हैं। गप्प इस अर्थ में कि इनमें से प्रत्येक को लेकर एक मिथक ही तो गढ़ा गया है! कहीं पुराने मिथक का अर्थानुसंधान करते हुए एक नये मिथक की सृष्टि और कहीं पुराने मिथक के सहारे एक नये इतिहास की रचना!

इस बात को लेकर मेरे मन में बराबर एक कुतूहल रहा है कि 'कल्पलता' पर कोई निबंध लिखे बिना ही द्विवेदीजी ने अपने एक निबंध-संग्रह का नाम 'कल्पलता' क्यों रखा? क्या वे निबंध मात्र को 'कल्पलता' समझते थे। कल्पवृक्ष नहीं, कल्पलता। लता में जो खुल कर फैलते जाने की स्वच्छंद वृत्ति है, वह वृक्ष में कहाँ! कल्प का कोई भी संबंध कल्पना से है तो फिर कल्पना की लता ही हो सकती है, पेड़ नहीं जो एक जगह खड़े रहने के लिए अभिशप्त है और मस्ती के आलम में खड़े खड़े झूमने से ज्यादा कुछ नहीं कर सकता।

जो हो, इतना तो साफ़ है कि द्विवेदीजी को 'कल्पलता' बहुत प्रिय थी। द्विवेदीजी के प्रिय कवि कालिदास को भी कल्पलता बहुत पसंद थी। 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के इस छंद में कल्पलता जिस साज-संभार के साथ आई है उसे पढ़ने के बाद उसके उपयोग का लोभ संवरण कौन कर सकता है–

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमीकल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥

इस छंद का उपयोग द्विवेदीजी ने भी एकाधिक बार किया है कि सबसे हृद्य संदर्भ 'पुनर्नवा' का है जब देवरात को मंजुला का पत्र प्राप्त होता है–''सारा पत्र काजल को ही स्याही बनाकर लिखा गया था। देवरात का हृदय बुरी तरह धड़कने लगा। उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा—'विच्छित्ति शेषैःसुरसुन्दरीणाम्'—सरसुन्दरियों के प्रसाधन के बाद बचे हुए सिंगारदान के रंग से! तो मंजुलाने अपने सिंगारदान की सबसे महार्घ और सबसे मोहन प्रसाधन सामग्री से यह पत्र लिखा है।''

क्या 'अशोक के फूल' जैसे निबंध को पढ़ते हुए हमें भी ऐसा नहीं लगता? आलेख का लालित्य कुछ ऐसा ही जादू करता है जैसे कल्पलता के अंशुकों पर देवांगनाओं के प्रसाधन से बचे हुए विभिन्न रंगों से देवताओं ने किसी दुष्यन्त का यशोगान लिखा हो!

इसी प्रसंग में द्विवेदीजी ने चित्रित 'कल्पवल्ली' की भी व्याख्या की है जो प्रासंगिक

प्रतीत होती है। लिखते हैं: ''कल्पवल्ली जिसका अर्थ नहीं होता, भाव नहीं होता, मतलब नहीं होता, होता है केवल छंद, केवल लय, केवल गति–विशुद्ध इच्छा! तप:पूत महात्मा के आशीर्वाद के समान मंगलेच्छा मात्र! अर्थ उसके पीछे दौड़ता है। जो नृत्य में ताण्डव है, वही चित्र में कल्पवल्ली और आचार में मांगल्य आशीर्वाद है।

इस चित्र की कल्पवल्ली से साहित्य की 'कल्पलता' का कोई रिश्ता बनता है? द्विवेदी जी ने जब अपने निबंधों के संग्रह का नाम 'कल्पलता' रखा था तो क्या उनके मन में 'कल्पवल्ली' का यह अर्थ उपस्थित था? उनके सभी नहीं तो कुछ निबंधों में ही सही, क्या केवल छंद ही है, लय ही है, गति ही है, भाव या अर्थ नहीं? या फिर भाव और अर्थ गौण है, मोहन हैं तो वे अपने छंद और लय के कारण!

शायद यह कुछ उसी तरह की बात है जो जार्ज लुकाच ने 'रूप' के विषय में कही थी: ''जब कोई वस्तु अपनी समस्त अन्तर्वस्तु को रूप में घुला देती है ओर इस प्रक्रिया में शुद्ध कला हो जाती है तो वह फालतू नहीं रह जाती!''

'छन्द' द्विवेदीजी का दूसरा प्रिय शब्द है जिसकी याद उन्हें अक्सर आती है और जिसका प्रयोग वे विशिष्ट अर्थ में करते हैं। देवदारु का पेड़ उन्हें मूर्तिमान छंद मालूम होता है।'' ''उसकी झबरीली टहनियाँ कँटीले पत्तों के ऐसे लहरदार छन्दों का वितान तानती है कि छाया चेरी सी अनुगमन करती है।'' फिर, ''पेड़ क्या है, किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्तिमान छन्द है—धरती के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितान की शृंखला को सावधानी से सँभालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छन्द!'' द्विवेदी जी की दृष्टि में यह ''अर्थातीत छंद'' है और इसीलिए ''अर्थातीत आनंद'' भी। महादेव के तांडव के तुल्य। दोनों में वे तुक देख लेते हैं। एक ओर देवदारु की ग़गनचुम्बी शिखा और दूसरी ओर समाधिस्थ महादेव की निर्वात-निष्कम्प प्रदीप की उर्ध्वगामिनी ज्योति! वस्तुत: इस प्रसंग में एकाग्रीभाव ही छंद की आत्मा है। अन्यत्र वे ''समष्टि व्यापिनी जीवनगति के समानान्तर चलने वाले व्यष्टिगत प्राणवेग'' को छंद का नाम देते हैं। तात्पर्य यह कि छन्द द्विवेदीजी का अपना प्राणवेग है। इसीलिए उन के गद्य में भी एक छंद है। यह पद्यगंधी छंद नहीं है बल्कि गद्य का अपना छंद।

प्राणवेगी गद्य का एक उदाहरण देवदारु से ही लें:

''मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक जैसा ही देखते हैं। उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिंझोटा, वह झबरैला, वह चपरपेंगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी सब समान है।'' देशज और तद्भव विशेषणों की यह लम्बी सूची एक साथ देखकर मज़ा आ जाता है। कोई कवि अपनी कविता में ऐसी लड़ी क्या जोड़ेगा? लेकिन नहीं, प्रसंगवश याद आता है कि अज्ञेय ने भी कभी-कभी ऐसे करतब दिखाए हैं—मसलन 'असाध्यवीणा' में ही।

लेकिन यही दमतोड़ छंद हर जगह नहीं है। भावदशा के साथ-साथ छंद में भी फेर-बदल होता रहता है—गति और यति के नये नये रिश्ते बनते हैं। उदाहरण के लिए कबीर के व्यक्तित्व का छंद इस प्रकार का है—''ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त मौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड; दिल के साफ़, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।''

और दूसरी ओर है कुटज। ''छोटा सा—बहुत ही ठिगना पेड़। पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता।'' और इसी कुटज को बाद में वे उत्साहित करते हैं तो छंद बदल जाता है: ''जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती को चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायुमंडल को चूसकर झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर अवकाश की लहरों में झूमकर उल्लास खींच लो।''

गरज़ कि छंद द्विवेदीजी की मज्जा में है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो उनका समूचा व्यक्तित्व छंदों में रचा है। कविता लिखें, न लिखें, उनका गद्य ही छंदों में रचा है। किंतु यह पद्यगंधी छंद नहीं है। यह गद्य का अपना छंद है और है इसकी अपनी लय।

यह लय प्रत्येक निबंध की समूची संरचना में है। हर निबंध की उठान एक खास अन्दाज़ से होती है और फिर उसके अंत में भी एक अदा है। बीच में कभी आगे बढ़ते, पीछे हटते, इधर-उधर भटकते, चक्कर काटते, जैसे कोई भूली-सी बात याद करते, चुपके से कहीं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या हिंदी की किसी कविता की सटीक पंक्ति जड़ते हुए अंत में जैसे सम पर पहुँचते हैं। निबंध क्या है कि किसी राग की बंदिश! संगीत का ठाट! 'अशोक के फूल' में इस बंदिश की बनावट को बखूबी देखा जा सकता है! वैसे, दूसरे निबंधों में भी गद्य-विधान का यही रंग है।

इसी छंदमयता के कारण द्विवेदी जी के प्रायः सभी अच्छे निबंधों से एक गूँज-अनुगूँज आती है जो निबंध ख़त्म करने के बाद भी मन में देर तक गूँजती रहती है—पता नहीं चलता कि ये विचार की तरंगे हैं या प्रकाश की लहरें! कितनी मोहन है यह लहरदारी!

इस प्रकार 'गप्प' और 'छंद' ये दो ही बीज शब्द हैं जिनसे द्विवेदी जी के निबंधों की बनावट और बुनावट का कुछ आभास मिलता है।

गप्प मारने का हाल यह है कि कहाँ आम और कहाँ विच्छू—फिर भी इन दोनों के बीच द्विवेदीजी एक संबंध सूत्र ढूँढ़ ही निकालते हैं। इसी प्रकार कन्दर्प और गंधर्व को भी ध्वनि विज्ञान के एक नियम को लचकाकर एक कर लेने का चमत्कार कर दिखाते हैं। प्रसाद जी की श्रद्धा ने तो अपनी स्मिति रेखा से ज्ञान, इच्छा और क्रिया के त्रिपुर को ही

आकाश में एकजुट किया था, द्विवेदीजी की सर्जनात्मक कल्पना तो जाने कितनी असम्बद्ध वस्तुओं को एक सूत्र में बाँधती चलती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस गँठजोड़ी गप्प की कला में हजारी प्रसाद द्विवेदी बेजोड़ हैं। वैसे तो सभी 'नैरेटिव' गप्प ही हैं किन्तु गप्प को विश्वसनीय बनाने की कला तो द्विवेदीजी ही जानते हैं।

क्या उन्होंने यह कला रवीन्द्रनाथ से सीखी थी? बुद्धदेव वसु के अनुसार रवीन्द्रनाथ में भी ऐसा ही "विद्यद्धर्मिता" थी। वे भी "बिजली कौंधने की तरह एक क्षण में अपने मूल विचार को हमारे मन के सामने उपस्थित कर देते हैं।" जो हो, यह तथ्य है कि 'अशोक के फूल' के माध्यम से द्विवेदीजी ने भारतीय संस्कृति की जो झलक प्रस्तुत की वह निश्चय ही "विद्युद्धर्मी" है, साथ ही मौलिक भी।

इस प्रक्रिया में द्विवेदी जी जिस तरह शब्दों से खेलते हैं और एक-एक शब्द की अर्थ क्रीड़ा में जितनी दूर तक रस लेते हैं, वह और भी दिलचस्प है। आम्र और कुटज की व्युत्पत्ति के साथ इतिहास की परतों को खोलनें में द्विवेदीजी जिस तरह रस लेते हैं उसे देखते ही बनता है। उनकी इस कौतुकी वृत्ति से और तो और सुपरिचित देवदारु भी न बच सका। मज़े की बात तो यह कि वे अपने उपन्यासों में भी इस अर्थक्रीड़ा के लिए अवकाश निकाल लेते हैं और सिर्फ एक शब्द के सहारे पूरा का पूरा मिथक गढ़ लेते हैं जैसे चारुचन्द्र लेख में गधैया ताल के नाम को लेकर।

उल्लेखनीय यह है कि हर जगह यह अर्थक्रीड़ा कोरा चमत्कार ही नहीं होता; बल्कि अक्सर इस में रस भी होता है। जैसे 'मेघदूत; एक पुरानी कहानी' के अंतर्गत दूसरे छंद में आए 'सानु' शब्द की व्याख्या। "पहाड़ जहाँ थोड़ा समतल होकर नीचे की ओर ढलता है, उस ढलाव को संस्कृत में 'सानु' या 'पर्वत-नितम्ब' कहते हैं। विरही यक्ष ने पर्वत के सानु-देश पर सटे हुए काले मेघ को देखा। कैसा देखा? जैसे कोई काला मतवाला हाथी पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारने का खेल खेल रहा हो! किसी दिन इन्द्र के मतवाले हाथी ने इसी प्रकार ढूँसा मारकर कुबेर का बगीचा बरबाद कर दिया था। यक्ष का सोने का संसार धूल में मिल गया। वह दुनिया के एक कोने में फेंक दिया गया, प्रिया से दूर—बहुत दूर आज यह मेघ भी मतवाले हाथी के समान पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मार रहा है। यक्ष का हृदय चंचल हो उठा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आया—"

'सानु' पर्वत-नितम्ब को कहते हैं, इसका उल्लेख मेघदूत के टीकाकारों ने भले ही किया हो, किन्तु द्विवेदीजी ने इसके सहारे जो एक गप्प गढ़ा उसमें विशेष रस है। काम-भावना का यह शिष्ट संकेत द्विवेदीजी की अपनी प्रतिभा की विशेषता है। कहना न होगा कि यह कोरा चमत्कार नहीं बल्कि रस है।

वैसे तो प्राय: प्रत्येक निबंध में द्विवेदीजी कहीं-न-कहीं अपनी चिंता या पीड़ा की झलक दिए बिना नहीं रहते, फिर भी सच तो यह है कि कहीं कहीं ही उन्होंने अपने बारे में खुल

कर कहा है और कभी-कभी विषयांतर करके किंचित विस्तार से। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि उनके निबंधों के यही आत्म प्रसंग सर्वोत्तम बन पड़े हैं—विशेष रूप से वहाँ जब वे अपने ऊपर हँसते हैं या निर्मम होकर आत्म स्वीकृति करते हैं। इन प्रसंगों में सबसे मार्मिक है उनके अंतिम उपन्यास 'अनामदास का पोथा' की 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!' शीर्षक भूमिका। यह रचना देहावसान से चार साल पहले की है। द्विवेदीजी कहते हैं:

"महात्माओं की बात और है। वे लोग अपने बहाने साधारण मनुष्यों के मन को कुछ अच्छी बात सिखाना चाहते होंगे। किन्तु मैं साधारण मनुष्यों के रूप में ही सोच सकता हूँ। किसी को सिखाना इसका उद्देश्य नहीं है। पीछे की ओर देखता हूँ, विराट् रिक्तता! जो कुछ करता रहा हूँ वह क्या सचमुच किसी काम का था? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूँ, यही तो किया है। छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म मान लिया है किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित नहीं हो सका, किसी का दु:ख दूर करने के लिए अपने को उलीच कर दे नहीं सका। सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंड़ा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया। तुलसीदास ने मेरे-जैसे ही किसी को देखकर कहा होगा—'कोउ भल कहउ, देउ कछु, अस वासना न मन ते जाई'।"

निबंध में लोग प्राय: व्यक्ति व्यंजकता की माँग करते हैं यहाँ तक कि व्यक्तिव्यंजक निबंध को ही सचमुच का निबंध मानते हैं। इस क्रम में निबंध के पारखी 'चतुर सुजान' अक्सर निबंध नामक विधा के आदि प्रवर्तक मिशेलद मान्तेन का प्रमाण देते हैं और निबंध के लक्षण के रूप में मान्तेन की यह उक्ति उद्धृत भी करते हैं: "किसी भी अन्य विषय की अपेक्षा मैं स्वयं अपने आप का अध्ययन अधिक एकाग्रता के साथ करता हूँ। यही मेरा तत्त्व ज्ञान है, यही मेरा भौतिक शास्त्र. . . ."

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मान्तेन को कभी पढ़ा था, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। पढ़ा होता तो कहीं-न-कहीं उसका उल्लेख भी होता लेकिन जैसा कि उक्त अवतरण से पता चलता है, उन्होंने तुलसीदास को जरूर पढ़ा था—खास तौर से उनकी 'विनय पत्रिका' को! लेकिन मान्तेन या तुलसीदास को पढ़ने से ही व्यक्तिव्यंजकता नहीं आ जाती। यदि इस तरह व्यक्ति व्यंजकता आती और वह अमर कृति भी बनती तो निबंधों की दुनिया में मान्तेन की ठेलमठेल भीड़ लग जाती! व्यक्ति व्यंजकता होती क्या है, वह कहाँ से आती है और कैसे आती है यह तो स्वयं निबंध ही बोलता है।

इसी प्रकार की आत्मव्यंजकता से अनुभव के वे स्फुल्लिंग अनायास छिटकते हैं जो सूक्ति के समान मन में टिक जाते हैं। द्विवेदीजी ने स्वीकार किया है कि वे महात्माओं की तरह साधारण मनुष्यों को कुछ सिखाने के लिए नहीं लिख रहे हैं। आशय यह है कि वे "कोई तैयार सत्य उठाकर हमारे हाथ पर नहीं धरते"। जो कुछ भी है वह अपना अनुभूत सत्य।

गहरी पीड़ा के बीच से निकले कुछ अनुभव-कण। और ऐसे चमकते हुए कण द्विवेदीजी के निबंधों में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे पड़े हैं—कहीं फूलों के ढेर में और कहीं धूल या राख की राशि में! बतौर बानगी—

— "पंडिताई भी एक बोझ है, जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तब वह सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती।" **(अशोक के फूल)**

— "अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएं निकली हैं।" **(शिरीष के फूल)**

— "जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है।" **(कुटज)**

— "जो सबको लगे सो अर्थ; एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ!"
— "शास्त्रार्थ में कोई हारता नहीं, हराया जाता है।"
— "सब लगा-लगी वहम ही होती है। आँखों की भी।" **(देवदारु)**
— "पंडित की बात की संगति लोक-परम्परा से ही लग सकती है।" **(आम फिर बौरा गए)**
— "कमज़ोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी!" **(वसन्त आ गया है)**
— "वसंत आता नहीं, ले आया जाता है।"
— "सफलता और चरितार्थता में अंतर है।" **(नाखून क्यों बढ़ते हैं)**
— "यह समझना बड़ा कठिन है कि कब पण्डित का शास्त्र उसकी बुद्धि को दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्र को।" **(ठाकुरजी की बटोर)**
— "एक बार गलत-सही जो कह दिया, उसी से चिपट जाना 'भीषण' हो सकता है, हितकर नहीं।
— "करनेवाला इतिहास-निर्माता होता है, सिर्फ सोचनेवाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हांकता है जो सोचता है और सोचे को करता भी है।" **(भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!)**
— "देवता ही देवता को मारना जानता है। लोहा ही लोहे को काट सकता है। **(मेघदूत : एक पुरानी कहानी)**
— "किसी का भला न होता हो तो उसका पवारा पसारना सामाजिक अपराध ही है।" **(अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल)**

जैसे राहुलजी ने पाँच जिल्दों में 'मेरी जीवन यात्रा' लिखने के बाद अंत में उसे शास्त्रबद्ध करने के लिए 'घुमक्कड़ शास्त्र' नामक पुस्तक लिखी, उसी तरह द्विवेदीजी ने भी ढेर

सारे निबंधों की रचना करने के बाद निबंध के बारे में थोड़ी शास्त्रीय चर्चा भी की है। यह चर्चा उनकी एक छात्रोपयोगी पुस्तक 'साहित्य-सहचर' में अंकित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निबंध-संबंधी यह शास्त्रीय चर्चा स्वयं उन्हीं के निबंधों के सामने काफी फीकी है; फिर भी उससे द्विवेदीजी के निबंधों की विविधता का कुछ आभास हो जाता है। उन्होंने अंततः निबंधों की इन चार कोटियों को स्वीकृति दी है:

(1) वार्तालाप मूलक, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण 'एक तोता और एक मैना' को माना जा सकता है। वैसे वार्तालाप के अंश 'ठाकुरजी की बटोर' में भी है तथा अन्यत्र भी।

(2) व्याख्यान मूलक — 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' शीर्षक निबंध सचमुच ही व्याख्यान है, किन्तु वक्तृत्व गुण द्विवेदीजी के अन्य निबंधों में भी यत्र-तत्र प्रकट होता रहता है।

(3) अनियंत्रित गप्प मूलक— जैसे 'आम फिर बौरा गए' और 'देवदारु'; किन्तु गप्प के तत्त्व कुछ-न-कुछ सर्वत्र हैं।

(4) स्वगत-चिंतनमूलक — द्विवेदीजी के अधिकांश महत्त्वपूर्ण निबंधों को सामान्यतः इसी कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि यह स्वगत-चिंतन नर्म-विनोद से एकदम अछूता नहीं है।

आचार्य द्विवेदी ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस प्रकार का विभाजन बहुत अच्छा नहीं है, किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि निबंध के प्रचलित वर्गीकरणों से यह थोड़ा अलग है और द्विवेदी जी की निबंध-शैली की ऊपरी विविधताओं को एक हद तक उजागर करने में सहायक होता है। इससे अधिक उपयोगिता इस विवेचना की नहीं है।

निबंध की दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की गद्य रचनाओं से सौ-डेढ़ सौ पृष्ठों का एक छोटा सा संचयन तैयार करना आसान काम नहीं है। इस समय जो 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी रचनावली' सुलभ है वह लगभग पाँच हजार पृष्ठों तक व्याप्त ग्यारह जिल्दों का विशाल साहित्य है। इस रचनावली के खंड आठ और नौ सिर्फ निबंधों के ही हैं, जिनमें निबंधों की संख्या शताधिक है। चयन इन निबंधों से ही करना होता तो काम ज्यादा मुश्किल न था। इसी प्रकार यदि केवल तथाकथित 'व्यक्तिव्यंजक निबंध' अथवा 'ललित निबंध' लेने की शर्त होती तब तो कोई भी कठिनाई न थी। किन्तु इतना निश्चित है कि इस दृष्टि से हजारीप्रसाद द्विवेदी के चिंतन और सृजन का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व न होता। इसके लिए तो तथाकथित निबंधों की सीमा से बाहर जाना ही पड़ेगा। इसीलिए इस संचयन में 'कबीर' नामक पुस्तक का एक अध्याय रखना पड़ा है और 'मेघदूत—एक पुरानी' जैसी पुस्तक का भी आरंभिक अंश लिया गया है। जिसे कोरी टीका समझकर प्रायः उपेक्षित किया गया है। इसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' यद्यपि एक उपन्यास है, फिर भी उसकी भूमिका एक स्वतंत्र निबंध का स्वाद देने के कारण किसी भी निबंध-संग्रह

में स्थान पाने योग्य है। सच पूछिए तो पूरी छूट मिलने पर मैं द्विवेदी के अन्य उपन्यासों से भी कुछ अंश चुनकर रखता और देखता कि वे स्वतंत्र निबंध कैसे नहीं माने जाते! बहरलाल, कुछ लालसाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें पाले रखना ही सुखकर होता है।

अंत में क्या यह कहना जरूरी है कि प्रत्येक चयन की तरह यह चयन भी एक हद तक नितान्त निजी है—पंसद-नापसंद में निजी, फिर भी औरों की मंजूरी का तलबगार! अगर इसे 'हाँ, मगर' के साथ भी अपनाया गया तो मुझे परितोष होगा और संभवतः गुरुदेव की आत्मा भी दुखी न होगी! एवमस्तु।

—नामवर सिंह

1

अशोक के फूल

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में, और इसलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिंजनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा-पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कन्धे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम्-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप्-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक! मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गयी थी? कविता क्या सो गयी थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़

को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरंभ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पण्डितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुत: एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन-आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध-धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैवमार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गन्धर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गयीं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था! शरीर जलकर राख हो गया और 'वामन-पुराण' (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्य-देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गयी, स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया! स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं!

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है? यह क्या पुराणकार

की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं! सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं! यक्ष और यक्षिणी साधारणत: विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोध गया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्त्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूत्तियों की स्त्रियाँ प्राय: नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्म-ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्रशुक्ला अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। 'अशोक-कल्प' में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, वे कुछ ज्यादा गवीर्ली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि-जात मान ली गयीं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने कभी नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नही हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज सम्भवत: उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पण्डित 'पुनालुअन सोसाइटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम! परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृतिपूर्व स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों एवं असुरों की भाँति व्यापार वाणिज्यवाली

स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का सन्धान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवत: इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्त्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे, परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व-सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायें? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्त्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गयीं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्त्ती हिन्दू-समाज इन सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराजा भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखायी दे जाता है। राजघरानों में साधारणत: रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाददेश आहत हुआ—नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-सम्भार से पहले कन्दर्प से देवता की पूजा करती थीं और बाद में भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता कौन है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है! केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों वह उसे याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है!

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक,

जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, समाज ढह गये, और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गयी। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गयी, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखायी दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है! सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षणभर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सबकुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचायी है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायेगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायेगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान् समझ रहा हूँ और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगी; कौन जानता है! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था—अवश्य ही शर्त्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो: 'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः!'—परन्तु शाखाओं में लम्बित, वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज अरुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी?

सम्राटों-सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गयी; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया; मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गयी तो क्या यह मध्य-युग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक-युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी। उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायेगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्यप्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्त्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रमान का अपूर्व धर्म-मार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्री सुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी! मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवनी-शक्ति का दुर्दम अभियान था! कौन बतायेगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता, तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गयी। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ! अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है! कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।

2

शिरीष के फूल

जहाँ बैठ के यह लेख लिख रहा हूँ उसके आगे-पीछे, दायें-बायें, शिरीष के अनेक पेड़ हैं। जेठ की जलती धूप में, जबकि धरित्री निर्धूम अग्निकुण्ड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद गया था। कम फूल इस प्रकार की गर्मी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और आरग्वध (अमलतास) की बात मैं भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आसपास बहुत हैं। लेकिन शिरीष के साथ आरग्वध की तुलना नहीं की जा सकती। वह पन्द्रह-बीस दिन के लिए फूलता है, वसन्त ऋतु के पलाश की भाँति। कबीरदास को इस तरह पन्द्रह दिन के लिए लहक उठना पसन्द नहीं था। यह भी क्या कि दस दिन फूले और फिर खंखड़-के-खंखड़—'दिन दस फूला फूलिके खंखड़ भया पलास'! ऐसे दुमदारों से तो लँडूरे भले। फूल है शिरीष। वसन्त के आगमन के साथ लहक उठता है, आषाढ़ तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है। मन रम गया तो भरे भादों में भी निर्घात फूलता रहता है। जब उमस से प्राण उबलता रहता है और लू से हृदय सूखता रहता है, एकमात्र शिरीष कालजयी अवधूत की भाँति जीवन की अजेयता का मन्त्रप्रचार करता रहता है। यद्यपि कवियों की भाँति हर फूल-पत्ते को देखकर मुग्ध होने लायक हृदय विधाता ने नहीं दिया है, पर नितान्त ठूँठ भी नहीं हूँ। शिरीष के पुष्प मेरे मानस में थोड़ा हिल्लोल जरूर पैदा करते हैं।

शिरीष के वृक्ष बड़े और छायादार होते हैं। पुराने भारत का रईस जिन मंगल-जनक वृक्षों को अपनी वृक्ष-वाटिका की चहारदीवारी के पास लगाया करता था, उनमें एक शिरीष भी है (वृहत्संहिता, 5513)। अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीष के छायादार और घनमसृण हरीतिमा से परिवेष्टित वृक्ष-वाटिका जरूर बड़ी मनोहर दिखती होगी। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में बताया है कि वाटिका के सघन छायादार वृक्षों की छाया में ही झूला (प्रेंखा दोला) लगाया जाना चाहिए। यद्यपि पुराने कवि बकुल के पेड़ में ऐसी दोलाओं को लगा देखना चाहते थे, पर शिरीष भी क्या बुरा है! डाल इसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरूर होती है, पर उसमें झूलनेवालियों का वजन भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता। कवियों की यही तो बुरी आदत है कि वजन का एकदम खयाल नहीं करते। मैं तुन्दिल नरपतियों की बात नहीं कह रहा हूँ, वे चाहें तो लोहे का पेड़ बनवा लें!

शिरीष का फूल संस्कृत-साहित्य में बहुत कोमल माना गया है। मेरा अनुमान है कि कालिदास ने यह बात शुरू-शुरू में प्रचार की होगी। उनका इस पुष्प पर कुछ पक्षपात था (मेरा भी है)। कह गये हैं, शिरीष पुष्प केवल भौरों के पदों का कोमल दबाव सहन कर सकता है, पक्षियों का बिल्कुल नहीं—'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीष पुष्पं न पुनः पतत्रिणाम्।' अब मैं इतने बड़े कवि की बात का विरोध कैसे करूँ? सिर्फ विरोध करने

की हिम्मत न होती तो भी कुछ कम बुरा नहीं था, यहाँ तो इच्छा भी नहीं है। खैर, मैं दूसरी बात कह रहा था। शिरीष के फूलों की कोमलता देखकर परवर्ती कवियों ने समझा कि उसका सब-कुछ कोमल है! यह भूल है। इसके फल इतने मजबूत होते हैं कि नये फूलों के निकल आने पर भी स्थान नहीं छोड़ते। जब तक नये फल-पत्ते मिलकर धकियाकर उन्हें बाहर नहीं कर देते तब तक वे डटे रहते हैं। वसन्त के आगमन के समय जब सारी वनस्थली पुष्प-पत्र से मर्मरित होती रहती है, शिरीष के पुराने फल बुरी तरह खड़खड़ाते रहते हैं। मुझे इनको देखकर उन नेताओं की बात याद आती है, जो किसी प्रकार जमाने का रुख नहीं पहचानते और जब तक नयी पौध के लोग उन्हें धक्का मारकर निकाल नहीं देते तब तक जमे रहते हैं।

मैं सोचता हूँ कि पुराने की यह अधिकार-लिप्सा क्यों नहीं समय रहते सावधान हो जाती? जरा और मृत्यु, ये दोनों ही जगत् के अतिपरिचित और अतिप्रामाणिक सत्य हैं। तुलसीदास ने अफसोस के साथ इनकी सचाई पर मुहर लगायी थी—'धरा को प्रमान यही तुलसी जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना!' मैं शिरीष के फलों को देखकर कहता हूँ कि क्यों नहीं फलते ही समझ लेते बाबा कि झड़ना निश्चित है! सुनता कौन है? महाकालदेवता सपासप कोड़े चला रहे हैं, जीर्ण और दुर्बल झड़ रहे हैं, जिनमें प्राणकण थोड़ा भी ऊर्ध्वमुखी है, वे टिक जाते हैं। दुरन्त प्राणधारा और सर्वव्यापक कालाग्नि का संघर्ष निरन्तर चल रहा है। मूर्ख समझते हैं कि जहाँ बने हैं वहीं देर तक बने रहें तो कालदेवता की आँख बचा जायेंगे। भोले हैं वे। हिलते-डुलते रहो, स्थान बदलते रहो, आगे की ओर मुँह किये रहो तो कोड़े की मार से बच भी सकते हो। जमे कि मरे!

एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दु:ख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। जब धरती और आसमान जलते रहते हैं, तब भी यह हजरत न-जाने कहाँ से अपना रस खींचते रहते हैं। मौज में आठों याम मस्त रहते हैं। एक वनस्पतिशास्त्री ने मुझे बताया है कि यह उस श्रेणी का पेड़ है जो वायुमण्डल से अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयंकर लू के समय इतने कोमल तन्तुजाल और ऐसे सुकुमार केसर को कैसे उगा सकता था? अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएँ निकली हैं। कबीर बहुत-कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बेपरवा, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे। शिरीष के फूल फक्कड़ाना मस्ती से ही उपज सकते हैं और 'मेघदूत' का काव्य उसी प्रकार के अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदय में उमड़ सकता है। जो कवि अनासक्त नहीं रह सका, जो फक्कड़ नहीं बन सका, जो किये-कराये का लेखा-जोखा मिलाने में उलझ गया, वह भी क्या कवि है? कहते हैं कर्णाट-राज की प्रिया विज्जिका देवी ने गर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वाल्मीकि और तीसरे व्यास। एक ने वेदों को दिया, दूसरे ने रामायण को और तीसरे ने महाभारत को। इनके अतिरिक्त और कोई यदि कवि होने का दावा करे तो मैं कर्णाट-राज की प्यारी रानी उनके

सिर पर अपना बायाँ चरण रखती हूँ—"तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाट राजप्रिया!" मैं जानता हूँ कि इस उपालम्भ से दुनिया का कोई कवि हारा नहीं है, पर इसका मतलब यह नहीं कि कोई लजाये नहीं तो उसे डाँटा भी न जाय। मैं कहता हूँ कि कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीष की मस्ती की ओर देखो। लेकिन अनुभव ने मुझे बताया है कि कोई किसी की सुनता नहीं। मरने दो!

कालिदास वजन ठीक रख सकते थे, क्योंकि वे अनासक्त योगी की स्थिर-प्रज्ञता और विदग्ध प्रेमी का हृदय पा चुके थे। कवि होने से क्या होता है? मैं भी छन्द बना लेता हूँ, तुक जोड़ लेता हूँ और कालिदास भी छन्द बना लेते थे—तुक भी जोड़ ही सकते होंगे—इसलिए हम दोनों एक श्रेणी के नहीं हो जाते। पुराने सहृदय ने किसी ऐसे ही दावेदार को फटकारते हुए कहा था—'वयमपि कवय: कवय: कवयस्ते कालिदासाद्या!' मैं तो मुग्ध और विस्मय-विमूढ़ होकर कालिदास के एक-एक श्लोक को देखकर हैरान हो जाता हूँ। अब इस शिरीष के फूल का ही एक उदाहरण लीजिए। शकुन्तला बहुत सुन्दर थी। सुन्दर क्या होने से कोई हो जाता है? देखना चाहिए कि कितने सुन्दर हृदय से वह सौन्दर्य डुबकी लगाकर निकला है। शकुन्तला कालिदास के हृदय से निकली थी। विधाता की ओर से कोई कार्पण्य नहीं था, कवि की ओर से भी नहीं। राजा दुष्यन्त भी अच्छे-भले प्रेमी थे। उन्होंने शकुन्तला का एक चित्र बनाया था; लेकिन रह-रहकर उनका मन खीझ उठता था। उहूँ, कहीं-न-कहीं कुछ छूट गया है। बड़ी देर के बाद उन्हें समझ में आया कि शकुन्तला के कानों में वे उस शिरीष पुष्प को देना भूल गये हैं, जिसके केसर गण्डस्थल तक लटके हुए थे, और रह गया है शरच्चन्द्र की किरणों के समान कोमल और शुभ्र मृणाल का हार।

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥

कालिदास ने यह श्लोक न लिख दिया होता तो मैं समझता कि वे भी बस और कवियों की भाँति कवि थे, सौन्दर्य पर मुग्ध, दु:ख से अभिभूत, सुख से गद्‌गद! पर कालिदास सौन्दर्य के बाह्य आवरण को भेदकर उसके भीतर तक पहुँच सकते थे, दु:ख हो कि सुख, वे अपना भाव-रस उस अनासक्त कृपीवल की भाँति खींच लेते थे जो निर्दलित ईक्षुदण्ड से रस निकाल लेता है। कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणी की अनासक्ति आधुनिक हिन्दी कवि सुमित्रानन्दन पन्त में है। कविवर रवीन्द्रनाथ में यह अनासक्ति थी। एक जगह उन्होंने लिखा है—'राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्पकला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गन्तव्य स्थान उसे

अतिक्रम करने के बाद ही है, यही बताना उसका कर्तव्य है।' फूल हो या पेड़, वह अपने-आपमें समाप्त नहीं है। वह किसी अन्य वस्तु को दिखाने के लिए उठी हुई अंगुली है। वह इशारा है।

शिरीषतरु सचमुच पक्के अवधूत की भाँति मेरे मन में ऐसी तरंगें जगा देता है जो ऊपर की ओर उठती रहती हैं। इस चिलकती धूप में इतना सरस वह कैसे बना रहता है? क्या ये बाह्य परिवर्तन—धूप, वर्षा, आँधी, लू—अपने-आपमें सत्य नहीं हैं? हमारे देश के ऊपर से जो यह मार-काट, अग्निदाह, लूट-पाट, खून-खच्चर का बवण्डर बह गया है, उसके भीतर भी क्या स्थिर रहा जा सकता है? शिरीष रह सका है। अपने देश का एक बूढ़ा रह सका था। क्यों मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों सम्भव हुआ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है। शिरीष वायुमण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गांधी भी वायुमण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सकता था। मैं जब-जब शिरीष की ओर देखता हूँ तब-तब हूक उठती है—हाय, वह अवधूत आज कहाँ है!

3

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व और अपर समुद्र—महोदधि और रत्नाकर—दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा जाय तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह जो शृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे 'शिवालिक' शृंखला कहते हैं। 'शिवालिक' का क्या अर्थ है? 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनन्दा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्त्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-शृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अन्तर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो ठिंगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरन्तर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया

हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वन्द्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुल नहीं जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा-सा—बहुत ही ठिंगना—पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ! नाम भूल रहा हूँ। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता। पर नाम ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पण्डितों का सैकड़ों बार का कचारा-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया—रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले है या पदार्थ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ रहा है। मन व्याकुल हो गया, स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ, इसमें व्याकुल होने की क्या बात है? नाम में क्या रखा है—ह्वाट्स देअर इन ए नेम! नाम की जरूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा, बहुत-से नाम हैं। या फिर पौरुष-व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं—अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद! पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात!

इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है—देश में और काल में—मनोरथानामगतिर्नविद्यते! अचानक याद आया—अरे, यह तो कुटज है! संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किन्तु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विरुद तो निस्सन्देह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को 'कूटज' कहने में विशेष आनन्द मिलता है। बहरहाल, यह कूटज-कुटज है, मनोहर कुसुम-स्तबकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज! जी भर आया। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम-दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही सन्तोष करना पड़ा—चम्पक

नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविन्द नहीं—फकत कुटज के फूल! यह और बात है कि आज आषाढ़ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है! बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी 'शापेनास्तंगमितमहिमा' होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-शृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके सन्तप्त चित्त को सहारा दिया था—बड़भागी फूल है यह! धन्य हो कुटज, तुम 'गाढ़े के साथी' हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-शृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ। पर काहे वास्ते? लेकिन बुरा भी क्या है?

कुटज के ये सुन्दर फूल बहुत बुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे-भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी-कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेकद्रदानी से मुरझा गये होंगे—ऐसी ही मन:स्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुँझलाये थे, कह दिया:

वे रहीम अब बिरछ कहँ, जिनकर छाँह गँभीर;
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़ कुटज करीर।

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। 'छाँह' ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है। वे भी गलत-बयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-बिहारी कुटज का क्या तुक है?

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से सम्बद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है? घर में काम-काज करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही ही जा सकती हैं। एक जरा गलत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जा सकती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारदजी की तरह

दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं, पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना? शब्द विचारोत्तेजक अवश्य है। कहाँ से आया? मुझे तो इसी में सन्देह है कि यह आर्यभाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरन्त उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कूटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ लेवी कह गये हैं कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती-बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है? एक जमाना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गये। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा-विज्ञानी पण्डितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से सम्बद्ध है। भारत की अनेक जातियाँ वह भाषा बोलती हैं जिनमें सन्थाल, मुण्डा आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो-एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण-पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय-परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर और पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे कोल-परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पण्डितों ने बताया है कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुड्मल, कम्बु, कम्बल, ताम्बूल आदि शब्द ऐसे ही बताये जाते हैं। पेड़-पौधों, खेती के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे ही हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गये हैं। पण्डित लोग उसकी छान-बीन करके हैरान होते हैं। संस्कृत सर्वग्रासी भाषा है।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गये। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरन्तर स्फीयमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कान्तार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को

प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं भगवान् महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे; नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनन्दिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी—बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है—सूखी, नीरस, कठोर! यहीं आसन मारकर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तबक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबाकर गिरिनन्दिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का स्रोत कहाँ है। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायुमण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है:

भित्त्वा पाषाणपिठरं छित्त्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम्
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः!

दुरन्त जीवन-शक्ति है! कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवनरस के उपकरणों में! ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सबकुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती—सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं—'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति!' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए। सुना है, पश्चिम के हॉब्स और हेल्वेशियस जैसे विचारकों ने भी ऐसी ही बात कही है। सुन के हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है—है केवल प्रचण्ड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा—जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा—ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अन्तरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अन्तिम नहीं थी। वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति का 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सबमें आप—इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनन्द भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक

'स्वार्थ' खण्ड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय—कृपण—बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है। वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है—काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है: 'चाहे सुख हो या दु:ख, प्रिय हो अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो!'

सुखं वा यदि वा दु:खं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्
प्राप्तं प्राप्तमुपासीतं हृदयेनपराजित:।

—शान्तिपर्व, 25 1 26

हृदयेनापराजित:! कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से, दु:ख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा! कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन दृष्टि!

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है; अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाय, बहुत अच्छी बात है; नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दु:ख पहुँचाने का अभिमान तो नितरां गलत है।

दुख और सुख तो मन क विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दु:खी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छन्दावर्त्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है: 'मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ':

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा।

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता। मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो!

4

देवदारु

पता नहीं किसने इस पेड़ का नाम 'देवदारु' रख दिया था, नाम निश्चय ही पुराना है, कालिदास से भी पुराना, महाभारत से भी पुराना। सीधे ऊपर की ओर उठता है, इतना ऊपर कि पासवाली चोटी के भी ऊपर उठ जाता है, एकदम द्युलोक को भेद करने की लालसा से। नीचे शाखाएँ मर्त्यलोक को अभयदान देने की मुद्रा में फैलती चली जाती हैं, मानो कह रही हों, 'भय नहीं, मैं जो हूँ!' प्रत्येक शाखा की झबरीली टहनियाँ कँटीले पत्तों के ऐसे लहरदार छन्दों का वितान तानती हैं कि छाया चेरी-सी अनुगमन करती है। जिस आचार्य ने परिपाटीविहित शिष्टजनानुमोदित 'सज्जा' को 'छाया' नाम दिया था, वह जरूर इस पेड़ की शोभा से प्रभावित हुआ था। पेड़ क्या है, किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्त्तिमान् छन्द है—धरती के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितानों की शृंखला को सावधानी से सम्हालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छन्द! कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड़-वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्द्धा है—प्राण के आवेग की कैसी उल्लासकर अभिव्यक्ति है! देवताओं का दुलारा पेड़ नहीं तो यह क्या है? क्या यों ही समाधि लगाने के लिए महादेव ने 'देवदारु-द्रुम-वेदिका' को ही पसन्द किया था? कुछ बात होनी चाहिए। कोई नहीं बता सकता कि महादेव समाधि लगाकर क्या पाना चाहते थे। उन्हें कमी किस बात की थी? कालिदास ने बताया है कि उन्होंने इस प्रयोजनातीत (निष्प्रयोजन तो कैसे कहें) समाधि के लिए देवदारु-द्रुम के नीचे वेदिका बनायी थी। शायद इसलिए कि देवदारु भी अर्थातीत छन्द है—प्राणों का उल्लासनर्त्तन, जड़शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत करके विपुल व्योममण्डल में विहार करने का अर्थातीत आनन्द!

कहते हैं, शिव ने जब उल्लासातिरेक में उद्दाम नर्त्तन किया था तो उनके शिष्य तण्डु मुनि ने उसे याद कर लिया था। उन्होंने जिस नृत्य का प्रवर्त्तन किया उसे 'ताण्डव' कहा जाता है। 'ताण्डव' अर्थात् 'तण्डु' मुनि द्वारा प्रवर्त्तित 'रस-भाव-विवर्जित' नृत्य! रस भी अर्थ है, भाव भी अर्थ है, परन्तु ताण्डव ऐसा नाच है जिसमें रस भी नहीं, भाव भी नहीं। नाचने वाले का कोई उद्देश्य नहीं, मतलब नहीं, 'अर्थ' नहीं। केवल जड़ता के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करके एकमात्र चैतन्य की अनुभूति का उल्लास! यह 'एकमात्र' लक्ष्य

ही उसमें छन्द भरता है, इसी से उसमें ताल पर नियन्त्रण बना रहता है। एकाग्रीभाव, छन्द की आत्मा है। अगर यह न होता तो शिव का ताण्डव बेमेल धमाचौकड़ी और लस्टम-पस्टम उछल-कूद के सिवा और कुछ न होता। ताण्डव की महिमा आनन्दोन्मुखी एकाग्रता में है। समाधि भी एकाग्रता चाहती है। ध्यान, धारणा और समाधि की एकाग्रता से ही 'योग' सिद्ध होता है। बाह्य प्रकृति के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करने का उल्लास ताण्डव है। अन्तःप्रकृति के असंयत फिंकाव को नियन्त्रित करने के उल्लास का नाम समाधि है। देवदारु वृक्ष पहले प्रकार के उल्लास को सूचित करता है, शिव का 'निवात-निष्कम्प-इव-प्रदीप:' रूप दूसरे प्रकार के। दोनों में एक ही छन्द है। शिव ने समझ-बूझकर ही देवदारु-द्रुम की वेदिका को पसन्द किया होगा। देवदारु के नीचे समाधिस्थ महादेव! तुक मिल रहा है, शानदार तुक! कौन कहता है कि कालिदास ने तुक मिलाने की परवा नहीं की? मेरा मन कहता है कि कालिदास भी तुकाराम थे, तुक मिलाने के मौजी वाग्विलासी! मगर ये तुक भौंडे किस्म के नहीं होते थे, यह तो निश्चित है। 'झगरे-रगरे बगरे-डगरे'—ये भी कोई तुक है! मगर सारी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है। कुछ-न-कुछ तो होगा ही, सारी दुनिया यों ही पागल नहीं हो सकती। लेकिन यह भी सही है कि 'बात-बात' में तुक मिला करता है। अगर ऐसा न होता तो 'बेतुकी' हाँकने वालों को बुरा न माना जाता। जो लोग 'तुक की बात करते हैं' वे शब्द की ध्वनियों का तुक तो नहीं मिलाते। फिर तुक है क्या?

तुक वह है जो देवदारु की गगनचुम्बी शिखा और समाधिस्थ महादेव की निवात-निष्कम्प-प्रदीप की ऊर्ध्वगामिनी ज्योति में है! अर्थात् तुक अर्थ में रहता है। ध्वनि-साम्य के तुक में कुछ-न-कुछ अर्थचारुता होनी चाहिए। ध्वनि-साम्य साधन है, तुक अर्थ का धर्म होना चाहिए। मगर ऐसा कहना खतरे से खाली नहीं है। किसी नये आलोचक ने अर्थ की लय की वकालत की है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि सारी पण्डितमण्डली उस गरीब पर बरस पड़ी है। अगर तुक अर्थ में मिल सकता है तो लय क्यों नहीं मिल सकता? मेरे अन्तर्यामी कहते हैं कि तुक तो अर्थ में रहता है, लय नहीं रहता। बहुत-से लोग अन्तर की आवाज को आँख मूँदकर मान लेते हैं, मैं नहीं मान पाता। आँख खोलने पर भी यदि अन्तर की आवाज ठीक जँचे तो मान लेना चाहिए; क्योंकि उस अवस्था में भीतर और बाहर का तुक मिल जाता है। शिवजी ने अन्तर और बाहर का तुक मिलाने के लिए ही तो देवदारु को चुना था। अन्तर्यामी भी बहिर्यामी के साथ ताल मिलाते रहें, यही उचित है। महादेव ने आँखें मूंद ली थीं, देवदारु ने खोल रखी थीं। महादेव ने भी जब आँख खोल दी तो तुक बिगड़ गया, छन्दोभंग हो गया, त्रैलोक्य को मदविह्वल करने वाला देवता भस्म हो गया। उसका फूलों का तूणीर जल गया, रत्नज़टित धनुष टूट गया। सब गड़बड़ हो गया। सोचता हूँ—उस समय देवदारु की क्या हालत हुई होगी! क्या इतनी ही फक्कड़ाना मस्ती से झूम रहा होगा? क्या ऐसा ही बेलौस खड़ा होगा? शायद हाँ, क्योंकि शिव की समाधि टूटी थी, देवदारु का ताण्डव—रसभावविवर्जित महानृत्त—नहीं टूटा था। देवता की तुलना में वह निर्विकार रहा—काठ बना हुआ। कौन जाने इसी कहानी को सुनकर

किसी ने इसे 'देवता का काठ' (देव-दारु) नाम दे दिया हो! फक्कड़ हो तो अपने लिए हो बाबा, मनुष्य के लिए तो निरे काठ हो; दया नहीं, माया नहीं, मोह नहीं, आसक्ति नहीं, निरे काठ! ऐसों से तो देवता ही भला! कहीं-न-कहीं उसमें दिल तो है। मगर यह भी कैसे कहा जाये! देवता के दिल होता तो लाज-शरम भी होती, लाज शरम होती तो आँखों की पलकें भी झँपतीं। लेकिन देवता है कि ताकता रहता है, पलकें उसकी झँपतीं ही नहीं। एक क्षण के लिए उसने आँखें मूँदी कि अनर्थ हुआ! बहुत सावधान, सदा जाग्रत।

अलबत्त, महादेव इन देवताओं से भिन्न थे। जहाँ आँखें झुकनी चाहिए, वहाँ उनकी आँखें झुकती थीं, जहाँ टकटकी बँधनी चाहिए वहाँ बँध जाती थीं। पार्वती जब पुष्पों के आभरण से सजी हुई सञ्चारिणी पल्लविनी लता की भाँति उनके सामने आयीं, तो उनके (पार्वती के) बिम्बफल के समान अधरोष्ठवाले मोहक मुख पर उनकी टकटकी बँध गयी। फिर उनकी आँखें झुकीं भी। वे मनुष्य के समान विकारग्रस्त हुए। वे देवताओं में मनुष्य थे—महादेव! उस दिन देवदारु चूक गया। वह सब देखता रहा। इतना बड़ा अनर्थ हो गया और आपने अवधूतपन का बाना नहीं छोड़ा। वह महावृक्ष नहीं बन सका, 'देवदारु' बन गया। आँखे खोले रहना भी कोई तुक की बात है! महावृक्ष वनस्पति होते हैं, जिनमें भावुकता तो नहीं पर सार्थकता होती है, जो फूल तो नहीं देते पर फल देते हैं—'अपुष्पा फलवन्तो ये'। देवदारु चूक गया, 'वनस्पति' की मर्यादा से वंचित रह गया।

तो क्या हुआ? यह सब मनुष्य की आत्म-केन्द्रित दृष्टि का प्रसाद है। देवदारु को इससे क्या लेना-देना! वह तो जैसा है वैसा बना हुआ है। तुम उसे वनस्पति कहो या देवता का काठ कहो! तुम्हें अच्छा लगता है तो अच्छा नाम देते हो, बुरा लगता है तो बुरा नाम देते हो। नाम में क्या धरा है? मुमकिन है, इसका पुराना नाम देवतरु हो। देवता का तरु नहीं, देवता भी और तरु भी। देव होकर वह छन्द है तरु होकर अर्थ है। छन्द, समष्टिव्यापिनी जीवनगति के समानान्तर चलने वाले व्यष्टिगत प्राणवेग का नाम है; अर्थ, समाज-स्वीकृति-प्राप्त संकेत् हुआ करता है।

जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ, वहाँ से ऊपर और नीचे पर्वतपृष्ठ पर देवदारु वृक्षों की सोपान-परम्परा-सी दीख रही है। कैसी मोहक शोभा है! वृक्ष और भी हैं, लोगों ने नाम भी बताये हैं, पर सब छिप गये हैं। दिखते हैं आकाशचुम्बी देवदारु। ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदारु वृक्षों की फुनगी पर से लुढ़का दिया जाऊँ तो फुनगियों पर ही लोटता हुआ हजारों फीट नीचे तक जा सकता हूँ, अनायास! पर ऐसा लगता ही भर है। भगवान् न करे कोई सचमुच लुढ़का दे। हड्डी-पसली चूर हो जायेगी। जो कुछ लगता है वह सचमुच हो जाये तो अनर्थ जो जाये। लगने में बहुत-सी बातें गलत लगती हैं। इसीलिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नहीं होता, कई बार अनर्थ होता है। अर्थ वास्तविकता है, वास्तविक जगत् की सचाई है; लगता है सो मन का विकल्प है, अन्तर्जगत् की स्पृहा मात्र है, छन्द है। दोनों में कहीं ताल-तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नहीं मिलता, यह खेद की बात है। ताल-तुक मिलना अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। 'अ-लग' अर्थात् जो न लगे। लगता है पर नहीं लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई? तुक की बात तब होती जब लगना 'अलग' लगना न होता। इसीलिए कहता हूँ कि तुक अर्थ में होता है। जिसने इस पेड़ का नाम देवदारु दिया था उसे क्या लगा था, कह नहीं सकता। बात औरों को भी कमोबेश लगी होगी, तभी सबने मान लिया। जो सबको लगे सो अर्थ; एक को लगे, बाकी को न गले तो अनर्थ! अलगाव को ही पुराने आचार्यों ने पृथक्त्व बुद्धि का नाम दिया है। और भी समझाकर कहा है कि यह अलगाव 'मैं-पन' है, 'अहंकार' है। इधर कवि लोग हैं कि उन्हें हमेशा कुछ देखकर कुछ-न-कुछ लगता ही रहता है। खुलेआम कहते हैं कि मुझे ऐसा लग रहा है। क्यों कहते हो बाबा कि 'मुझे' ऐसा लग रहा है? दुनिया की ओर भी देखो। वह तुम्हें पागल कहेगी। पागल को भी तो कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मगर दुनिया को देखता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ। कवि को जो कुछ लगता है उसके लिए 'वाह-वाह' कहके उसे सिर उठा लेती है। कुछ समझ में नहीं आता—'हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो सब गाँव।'

बिहारी अच्छे-खासे कवि माने जाते हैं। उन्हीं की बात याद आ गयी थी। बात इतनी ही सी थी कि कोई विरह की मारी स्त्री कह रही है कि मैं ही पागल हो गयी हूँ या सारा गाँव ही पागल हो गया है? क्या समझकर ये लोग चाँद को ठण्डी किरण वाला कहते हैं—'कहा जाने ये कहत हैं ससिहिं सीतकर नाँव।' विरह की मारी महिला का दिमाग बिगड़ गया है, जो सबको ठण्डा लग रहा है उसे वह दाहक मान रही है। पागलपन ही तो है। मगर जब बिहारी ने उसे दोहा छन्द में बाँध दिया तो बात बिल्कुल बदल गयी। हाय-हाय, कैसी विरह-वेदना है कि उस सुकुमार बालिका को चाँद भी गरम मालूम पड़ता है! हृदय के भीतर जलने वाली विरहाग्नि ने उसे किसी काम का नहीं छोड़ा। हे भगवान्! तुम ऐसा कुछ नहीं कर सकते कि सारे गाँव के समान इस बालिका को भी चन्द्रमा उतना ही शीतल लगे जितना औरों को लगता है! अर्थात् विरहिणी की दारुण व्यथा अब सबके चित्त की सामान्य अनुभूति के साथ ताल मिलाकर चलने लगी। पागल का 'लगना' एक का लगना होता है, कवि का लगना सबको लगने लगता है। बात उलटकर कही जाय तो इस प्रकार होगी—जिसका लगना सबको लगे, वह कवि है; जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे, औरों को नहीं, वह पागल है। लगने-लगने में भी भेद है। जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एक को ही लगे वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है।

मगर देवदारु नाम केवल नाम ही नहीं है। मैंने अपने गाँव के एक महान् भूत-भगवान् ओझा को देवदारु की लकड़ी से भूत भगाते देखा है। आजकल के शिक्षित लोग भूत में विश्वास नहीं करते। वे भूत को मन का वहम मानते हैं। पर गाँव में भूत लगते मैंने देखा है। भूत भगाते भी देखा है। भूत भी 'लगता' है। सब लगालगी वहम ही होती होगी। आँखों की भी। बिहारी जानते थे। कहे गये हैं—'लगालगी लोचन करें, नाहक मन बँधि जाय।' नाहक अर्थात् बेमतलब, निरर्थक।

हमारे गाँव में एक पण्डितजी थे। अपने को महाविद्वान् मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के जोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कैंडे का हुआ तो दैहिक-बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार खासी गुत्थमगुत्थी हो गयी। गाँव-जवार के लोगों को पण्डितजी की विद्या पर भरोसा नहीं था, पर उनकी फचाफच वाणी और भीमकाया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पण्डितजी कभी हारे नहीं। कम लोग जानते हैं कि शास्त्रार्थ में कोई हारता नहीं, हराया जाता है! पण्डितजी के यजमान जमके उनके पीछे लाठी लेकर खड़े हो जाते थे, तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पण्डितजी केवल बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नहीं, आसपास के भूतों को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते थे। गायत्री का मन्त्र (जो उनके मुँह से आल्हा-जैसा सुनायी देता था) और देवदारु की लकड़ी—उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुजर रहे थे, घोर अन्धकार, भयंकर सुनसान! क्या देखते हैं कि आगे दनादन ढेले गिर रहे हैं। पण्डितजी का अनुभवी मन तुरन्त ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। मनुष्य इतनी तेजी से नहीं फेंक सकता। पण्डितजी डरने वाले नहीं थे। पीछे मुड़कर ललकारा—'अरे केवन है!' केवन अर्थात् कौन। पीछे मुड़कट्टा, घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प! (यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए बता दूँ कि एक बार मैंने अपने गाँव में भूतों के जाति-भेद की जाँच की थी। कुल तेईस किस्म के हैं। मुड़कट्टा एक भूत ही है। मूँड़ नहीं है। छाती पर दो आँखें मशाल की तरह जलती रहती हैं। घोड़े पर चढ़कर चलता है।) सो, पण्डितजी से उलझने की हिमाकत की इस दुरन्त मुड़कट्टे ने। डरनेवाला कोई और होता है। पण्डितजी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ में बाधक था। झमाझम गायत्री पढ़ने लगे। देवदारु की लकड़ी मुट्ठी में थी। दे रद्दे पर रद्दा। बिचारा मुड़कट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा—'अबकी बार छोड़ दो पण्डितजी, पहचान नहीं सका था। अब फिर यह गलती नहीं होगी। आज से मैं तुम्हारा गुलाम हुआ।' पण्डितजी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नहीं तो यह सारे गाँव-जवार का कण्टक समाप्त ही हो गया होता। मैंने यह कहानी स्वयं पण्डितजी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नहीं था—फर्स्टहैण्ड इन्फर्मेशन था। उस दिन मेरे बालचित्त पर देवदारु की धाक जग गयी थी। अब भी क्या दूर हुई है!

आज देवदारु के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुड़कट्टे होते हैं, आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज उनके पास होती ही नहीं, मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गयी तो फूल की सम्भावना ही कहाँ रही—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कुहः'! क्या इन मुड़कट्टों को देवदारु की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है? करने का प्रयत्न ही तो कर रहा हूँ। परन्तु पण्डितजी के पास तो फचफची गायत्री थी, वह कहाँ पाऊँ?

मन की सारी भ्रान्ति को दूर करने वाले देवदारु, तुम्हें देखकर मन श्रद्धा से जो भर

जाता है, वह अकारण नहीं है। तुम भूत भगावन हो, तुम वहम-मिटावन हो, तुम भ्रान्ति-नसावन हो। तुम्हें दीर्घकाल से जानता था, पर पहचानता नहीं था। अब पहचान भी रहा हूँ। तुम देवता के दुलारे हो, महादेव के प्यारे हो, तुम धन्य हो!

जानता हूँ कि बुद्धिमान् लोग कहेंगे कि यह महज गप्प है। यह भी जानता हूँ कि कदाचित् अन्तिम विश्लेषण पर पण्डितजी की कहानी 'पत्ता खड़का, बन्दा भड़का' से अधिक वजनदार न साबित हो। सम्भावना तो यहीं तक है कि पत्ता भी न खड़का हो और पण्डितजी ने आद्योपान्त पूरी कहानी बना ली हो। मगर बलिहारी है इस सर्जनाशक्ति की। क्या शानदार कहानी रची है पण्डितजी ने! आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य 'मिथकीय युग' में रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था वहाँ मिथकीय तत्वों से काम लेता था। मिथक गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उसमें स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है। आश्चर्य होता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचानने वाले कला-समीक्षक कहलाते हैं। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते हैं। भूत तो सरसों में है। जो सत्य है वह सर्जनाशक्ति के हिरण्य पात्र में मुँह बन्द किये ढँका ही रह जाता है। एक पर एक गप्पों की परतें जमती जा रही हैं। सारी चमक सीपी की चमक में चाँदी देखने की तरह मन का अभ्यासमात्र है। गप्प कहाँ नहीं है, क्या नहीं है? मगर छोड़िए भी।

देवदारु भी सब एक-से नहीं होते। मेरे बिल्कुल पास में जो है, वह जरठ भी है, खूँसट भी। ज़रा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है। एक मोटेराम खड्ड के एक प्रान्त पर उगे हैं, आधे जमीन में, आधे अधर में; आधा हिस्सा ठूँठ, आधा जगर-मगर; सारे कुनबे के पाधा जान पड़ते हैं। एक अल्हड़ किशोर है, सदा हँसता-सा; कवि-जैसा लगता है। जी करता है इसे प्यार किया जाये। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है। एक इतना कमनीय था कि बैल की ध्वजावाले महादेव ने उसे अपना बेटा बना लिया था। पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था। कालिदास खुद कह गये हैं। मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक ही जैसा देखते हैं। उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिंझोटा, वह झबरैला, वह चपरगेंगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी, सब समान हैं। महादेवजी के प्यारे बेटे के कमनीय व्यक्तित्व को भी सब नहीं पहचान सकते थे। एक मदमत्त गजराज आये और अपने गण्डस्थल की खाज मिटाने के लिए उसी पर पिल पड़े। जड़ें हिल गयीं, पत्ते झड़ गये, खाल छूट गयी और आप खाज मिटाते रहे।

महादेवजी को बड़ा क्रोध आया। आना ही था। उन्होंने उसकी रक्षा के लिए एक सिंह तैनात कर दिया। पर मेरे सामने जो अल्हड़ कवि है, इनका क्या होगा? वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नहीं। फिर भी डर तो लगता ही है। हाथी न सही, गधों और खच्चरों से तो शहर भरा पड़ा है। लेकिन मैं जिधर हूँ उधर वे भी कम ही आते हैं। गाहे-बगाहे आ भी जाते हैं, पर उन्हें देवदारु की तरफ देखने को फुरसत नहीं होती। उन्हें देखने को और बहुत-सी चीजें मिल जाती हैं। बहरहाल कोई खास चिन्ता की बात नहीं है। इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परवा है। सन्त लोग चिल्लाकर थक गये कि 'मोल करो तलवार को, पड़ा रहन दो म्यान', मगर तलवार बन्द ही रह गये, म्यान के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है! अर्थमात्र, जाति है; छन्दमात्र, व्यक्तित्व है। अर्थ आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि वह धरती पर चलता है; छन्द आसानी से पकड़ में नहीं आता, वह आसमान में उड़ा करता है।

बात यह है कि जब मैं कहता हूँ कि देवदारु सुन्दर है तो सुनने वाले सुन्दर का एक सामान्य अर्थ ही लेते हैं। हजार तरह के सुन्दर पदार्थों में रहने वाला, एक सामान्य सौन्दर्य-धर्म। सौन्दर्य का कौन-सा विशिष्ट रूप मेरे हृदय में उल्लास तरंगित कर रहा है यह बात बस, मैं ही जानता हूँ। अगर मुझमें इस बात को कहने की शक्ति नहीं हुई तो यह गूँगे का गुड़ बनी रह जायेगी। जिसमें शक्ति होती है वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है। शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं, कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छन्दों के सहारे, उपमान-योजना के बल पर, ध्वनि-साम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है। तो भी क्या सब उसके विशिष्ट अर्थ को समझ पाते हैं? बिल्कुल नहीं। कोई बड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ ताल मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ जिसका हृदय मिल जाय उसे 'सहृदय' कहा जाता है। देवदारु की ऊर्ध्वशिखा-शोभा मेरे हृदय में एक विशेष उल्लास पैदा करती है। मेरे पास कवि-कौशल नाम की चीज नहीं है। मैं अपने विशिष्ट अनुभवों का साधारणीकरण नहीं कर पा रहा हूँ। कवि होता तो कर लेता। उपमानों की छटा खड़ी कर देता, सहृदय के चित्त को अपने चित्त के ताल पर नृत्य कराने योग्य छन्द ढूँढ लेता, ध्वनियों की नियतसंचारी समता का ऐसा समाँ बाँधता कि सुनने वाले का मन मयूर की भाँति नाच उठता, पर मेरे भाग्य में यह कुछ भी नहीं है। केवल आँख फाड़कर देखता हूँ, पाषाण की कठोर छाती भेदकर यह देवदारु न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है और क्रम-ह्रस्व छाया का वितान तानता हुआ ऊर्ध्वलोक की ओर किसी अज्ञात निर्देशक के तर्जनीसंकेत की भाँति कुछ दिखा रहा है। यह इतनी उँगलियाँ क्या यों ही उठी हुई हैं? कुछ बात है, अवश्य कुछ रहस्य है। भीतर-ही-भीतर अनुभव कर रहा हूँ, पर बता सकूँ ऐसी भाषा कहाँ है? हाय, मैं असमर्थ हूँ, मूक हूँ! मीमांसकों का एक सम्प्रदाय मानता था

कि शब्द का अर्थ वहाँ तक जाता है जहाँ तक वक्ता ले जाना चाहता है। वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। ये लोग कहते हैं कि जब जैमिनि मुनि ने कहा था कि 'यत्पर: शब्द: सशब्दार्थ:' तो उनका यही मतलब था। मेरा रोम-रोम अनुभव कर रहा है कि मुनि की बात का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए। कहाँ विवक्षा इतनी दूर तक ले जाती है? 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके मैं जो कहना चाहता हूँ वह कहाँ प्रकट हो पा रहा है? कहना तो बहुत चाहता हूँ, कोई समझे भी तो! नहीं, शब्द उतना ही बता पाता है जितना लोग समझते हैं। वक्ता जो कहना चाहता है उतना कहाँ बता पाता है वह? दुनिया में कवियों की जो कदर है, वह इसीलिए है कि वे जो अनुभव करते हैं उसे श्रोता के चित्त में प्रविष्ट भी करा सकते हैं। प्रेषणधर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है। मैं नहीं पहुँचा पाता हूँ उस अर्थ को जिसे मेरा मन अनुभव कर रहा है, क्योंकि मैं शब्दों और छन्दों का ऐसा अस्त्र नहीं बना पाता हूँ जो मेरी अनुभूतियों को लेकर तीर की तरह श्रोता के हृदय में चुभ जाये। अर्थ निश्चय ही वक्ता की इच्छा के आधीन नहीं है। यह सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसमें लय नहीं, संगीत नहीं, नाद नहीं, गति नहीं। वह स्थिर है। शब्दों के गतिशील आवेग से वह हिलता है, भरभराता है, नये-नये परिवेश में सजता है और तब कहीं नया अर्थ पैदा करता है। अर्थ में लय नहीं होता, वह लय के सहारे नया अर्थ देता है।

लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवा के झोंकों से जब हिलता है तो इसका आभिजात्य झूम उठता है। कालिदास ने इसी हिमालय के उस भाग की, जहाँ से भागीरथी के निर्झर झरते रहते हैं, शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवन की चर्चा की थी, उन्होंने शीतलता को भागीरथी के निर्झर-सीकरों की देन कहा, सुगन्धि को आसपास के वृक्षों के पुष्पों के सम्पर्क की बदौलत घोषित किया, लेकिन मन्दी के लिए मुहु:कम्पित देवदारु को उत्तरदायी ठहराया। देवदारु के बारम्बार कम्पित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगान्त की संचित अनुभूति ने ही मानो यह मस्ती प्रदान की है। जमाना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदान में जा बसे हैं, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुस्कराता हुआ मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ। तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं, मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मों ते दुरैहौ कहा सजनी, निहुरे-निहुरे कहुँ ऊँट की चोरी!' हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साथी दुर्लभ है।

5

आम फिर बौरा गये!

वसन्त पञ्चमी में अभी देर है, पर आम अभी से बौरा गये। हर साल ही मेरी आँखें इन्हें खोजती हैं। बचपन में सुना था कि वसन्त पञ्चमी के पहले अगर आम्रमञ्जरी दिख जाय तो उसे हथेली पर रगड़ लेना चाहिए; क्योंकि ऐसी हथेली साल-भर तक बिच्छू के जहर को आसानी से उतार देती है। बचपन में कई बार आम की मञ्जरी हथेली पर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता, पर वसन्त पञ्चमी से पहले जब कभी आम्रमञ्जरी दिख जाती है तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छू में क्या सम्बन्ध है? बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टि के समय जैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। जलप्रलय के पहलेवाली चट्टानों की दरारों में इसका जैसा शरीर पाया गया है, आज भी वैसा ही है। कम जन्तु इतने अपरिवर्त्तनशील रहे होंगे। उधर आम में जितना परिवर्त्तन हुआ है, उतना बहुत कम वस्तुओं में हुआ होगा। पण्डित लोग कहते हैं कि 'आम्र' शब्द 'अम्र' या 'अम्ल' शब्द का रूपान्तर है। 'अम्र' अर्थात् खट्टा। आम शुरू-शुरू में अपनी खटाई के लिए ही प्रसिद्ध था। वैदिक आर्य लोगों में इस फल की कोई विशेष कदर नहीं थी। वहाँ तो 'स्वाद उदुम्बरम्' या जायकेदार गूलर ही बड़ा फल था। लेकिन 'अमृत' शब्द कुछ इसी 'अम्र' का 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) से बना बिगड़ा होगा। बाद में 'आम्र' संसार का सबसे मीठा फल बन गया और 'अम्रित' अमृत बन गया। अपना-अपना भाग्य है। शब्दों के भी भाग्य होते हैं। परन्तु यह सब अनुमान-ही अनुमान है। सच भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। पण्डितों से कौन लड़ता फिरे! लेकिन बिच्छू के साथ आम का सम्बन्ध चक्कर में डाल देने वाला है अवश्य। मैं जब आम की मनोहर मञ्जरियों को देखता हूँ तब बिच्छू की याद आ जाती है, बिच्छू—जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूँसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है! प्रायः मोहक वस्तुओं को देखकर मनहूस लोगों की याद आ जाती है! सबको आती है क्या?

ज़रा तुक मिलाइए। आम्रमञ्जरी मदनदेवता का अमोघ बाण है और बिच्छू मदनविध्वंसी महादेव का अचूक बाण है। योगी ने भोगी को भस्म कर दिया, पर भोगी का अस्त्र योगी के अस्त्र को व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपन का! परन्तु सारी दुनिया—यानी बच्चों की दुनिया—इस बात को सच मानती आ रही है।

परसाल भी मैंने वसन्त पञ्चमी के पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गये। उसी आम को दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रुकके ही फूलते! कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी! मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नववधू के समान यह बिचारी आम्रमञ्जरी जरा सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे-जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी! वस्तुतः यह

मेरे मित्र की कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुँह दिखाने लायक न रहता। पर मुझे इतिहास की बात याद आ गयी। उससे मैं आश्वस्त हुआ, मनहूस कहाने की बदनामी से बच गया। वह इतिहास मनोरञ्जक है। सुनाता हूँ।

बहुत पहले कालिदास ने इसी प्रकार एक बार आम्रमञ्जरी को सकुचाते देखा था। 'शकुन्तला' नाटक में वे उसका कारण बता गये हैं। दुष्यन्त पराक्रमी राजा थे। उनके हृदय में एक बार प्रिया-वियोग की विषम ज्वाला जल रही थी, तभी वसन्त का पदार्पण हुआ। राजा ने वसन्तोत्सव न करने की आज्ञा दी। आम बिचारा बुरी तरह छका। इसका स्वभाव थोड़ा चञ्चल है। वसन्त आया नहीं कि व्याकुल होकर फूट पड़ता है। उस बार भी हजरत पुलकित हो गये। तब तक राजा की आज्ञा हुई। बेवकूफ बनना पड़ा। इन मञ्जरियों के रूप में मदनदेवता ने अपना बाण चढ़ाया था। बिचारे अधखिंचे धनुष के बाण समेटने को बाध्य हुए— 'शंकं संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूर्णार्धकृष्टं शरम्'। आजकल दुष्यन्त—जैसे प्रतापी राजा नहीं हैं। पर पिछली बार भी जब मदनदेवता को अपना अर्धकृष्ट शर समेटना ही पड़ा था तो कैसे कहा जाय कि वैसे प्रतापी लोग अब नहीं हैं? जरूर कोई-न-कोई पराक्रमी मनुष्य कहीं-न-कहीं विरहज्वाला में सन्तप्त हो रहा होगा। कार्य जब है, तो कारण भी होगा ही। इतिहास बदल थोड़े जायगा? और इस घटना के बाद जब कोई कालिदास को मनहूस नहीं कहता, तो मुझे ही क्यों कहेगा?

आशा करता हूँ, इस बार आम्र-मञ्जरी को मुरझाना नहीं पड़ेगा। आहा, कैसा मनोहर कोरक है! बलिहारी है इस 'आताम्रहरित-पाण्डुर' शोभा की! अभी सुगन्धि नहीं फैली है, किन्तु देर भी नहीं है। कालिदास ने आम्र-कोरकों को वसन्तकाल का 'जीवितसर्वस्व' कहा था। उन दिनों भारतीय लोगों का हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुन्दर का सम्मान करना जानते थे। गृहदेवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्र-कोरक को देखकर आनन्द-विह्वल हो जाती थीं। वे इस 'ऋतुमंगल' पुष्प को श्रद्धा और प्रीति की दृष्टि से देखती थीं। आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है। पुरानी बातें पढ़ने से ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अधभूला पुराना सपना है। रस मिलता है, पर प्रतीति नहीं होती। एक अजब आवेश के साथ पढ़ता हूँ:

आत्ताम्महरियपाण्डुर जीवितसब्बं वसन्तमासस्स ।
दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि ॥

आम्रकोरकों को प्रसन्न करने की बात भावोच्छ्वास की बहक के समान सुनायी देती है। मनुष्यचित्त इतना नहीं बदल गया है कि पहचान में ही न आये। पहले लोग अगर आम्रकोरक देखकर नाच उठते थे तो इन दिनों कम-से-कम उछल जरूर पड़ना चाहिए। पुष्प-भार से लदे हुए आम्र-वृक्ष को देखकर सहज भाव से निकल जाने वाले सैकड़ों मनुष्यों को मैंने अपनी आँखों देखा है। कोई नाच नहीं उठता। परन्तु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी। छपायी तो अब भी नहीं है, पर सोचता हूँ छपा देनी चाहिए। बहुत होगा, लोग कहेंगे, कविता में कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि

हूँ जो अकवि कहाने की बदनामी से डरूँ? यह कविता आम्र-कोरकों की अद्भुत विह्वलकारिणी शक्ति का परिचायक होकर मेरे पास पड़ी हुई है।

कामशास्त्र में 'सुवसन्तक' नामक उत्सव की चर्चा आती है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतार के दिन को कहते हैं। वसन्तावतार अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वी पर अवतरित होता है। मेरा अनुमान है, वसन्त पञ्चमी ही वह वसन्तावतार की तिथि है। 'मात्स्यसूक्त' और 'हरिभक्तिविलास' आदि ग्रन्थों में इसी दिन को वसन्त का प्रादुर्भाव-दिवस माना गया है। इसी दिन मदनदेवता की पहली पूजा विहित है। यह भी अच्छा तमाशा है। जन्म हो वसन्त का और उत्सव मदनदेवता का। कुछ तुक नहीं मिलता। मेरा मन पुराने जमाने के उत्सवों को प्रत्यक्ष देखना चाहता है, पर हाय, देखना क्या सम्भव है? 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में महाराज भोजदेव ने सुवसन्तक की एक हल्की-सी झाँकी दी है। इस दिन उस युग की ललनाएँ कण्ठ में कुवलय की माला और कान में दुर्लभ आम्रमञ्जरियाँ धारण करके गाँव को जगमग कर देती थीं:

छणपिट्ठधूसरत्थणि, महुमअतम्मच्छि कुवलआहरणे ।
कण्णकअचूअमंजरि, पुत्ति तुए मंडिओ गामो ॥

पर यह अपेक्षाकृत परवर्त्ती समाचार है। इसके पहले क्या होता था? क्या वसन्त के जन्मदिन को मदन का जन्मोत्सव मनाया जाता था? धर्मशास्त्र की पोथियों में लिखा है कि वसन्त पञ्चमी के दिन मदनदेवता की पूजा करने से स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं। यह और मजेदार बात निकली। तान्त्रिक आचार से विष्णु-भजन करने वाले बताते हैं कि 'काम-गायत्री' ही श्रीकृष्ण-गायत्री है। तो कामदेव और श्रीकृष्ण अभिन्न देवता हैं? पुराणों में लिखा है कि कामदेवता श्रीकृष्ण के घर पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए थे। वह कथा भी कुछ अपने ढंग की अनोखी ही है। कामदेव प्रद्युम्न के रूप में पैदा हुए, और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें हर ले गया और समुद्र में फेंक दिया। मछली उन्हें खा गयी। संयोगवश वही मछली शम्बर की भोजनशाला में गयी और बालक फिर उसके पेट से बाहर निकला। कामदेवता की पत्नी रतिदेवी वहाँ पहले से ही मौजूद थीं। और ऐसे मौकों पर जिस व्यक्ति का पहुँचना नितान्त आवश्यक होता है, वे नारद मुनि भी वहाँ पहुँच गये। रति को सारी बातें उन्हीं से मालूम हुईं। प्रद्युम्न पाले गये, शम्बर मारा गया, श्रीकृष्ण के घर में पुत्र ही नहीं, पुत्रवधू भी यथा-समय पहुँच गयी; इत्यादि-इत्यादि। पुराणों में असुर प्रायः ही शैव बताये गये हैं। कामदेव उनके दुश्मन हों यह तो समझ में आ जाता है, पर भागवतों से उसका सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मँडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आयी नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दिख नहीं रहा है। सुदूर इतिहास के कुज्झटिकाच्छन्न नभोमण्डल में कुछ देख लेने की आशा पोसना ही मूर्खता है। पर आदत बुरी चीज है। आर्यों के साथ असुरों, दानवों और दैत्यों के संघर्ष से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रहकर मेरा ध्यान मनुष्य की इस अद्भुत विजय-यात्रा की ओर खिंच जाता है, कितना भंयकर संघर्ष वह रहा होगा जब घर में पालने

पर सोये हुए लड़के तक चुरा लिये जाते होंगे और समुद्र में फेंक दिये जाते होंगे; पर हम किस प्रकार उसको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षों के उपास्य देवताओं को समान श्रद्धा के साथ ग्रहण किये हुए हैं? आज इस देश में हिन्दू और मुसलमान इसी प्रकार के लज्जाजनक संघर्ष में व्यापृत हैं। बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फेंक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गयी हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जायेंगी। दोनों दलों की अच्छी बातें ले ली जायेंगी, बुरी बातें छोड़ दी जायेंगी। पुराने इतिहास की ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्त्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी निकम्मी आदतों से भी आराम मिलता है।

तो, यह जो 'भागवत पुराण' का शम्बर असुर है, इसका नाम अनेक तरह से पुराने साहित्य में लिखा मिलता है, शम्बर भी मिलता है, सम्बर भी और सावर या शाबर भी। कोई विदेशी भाषा का शब्द होगा, पण्डितों ने नाना भाव से सुधार कर लिख लिया होगा। यह इन्द्रजाल या जादू विद्या का आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुधान' है। यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक भारतवर्ष का है, दूसरा ईरान का। ऐसे अनेक शब्द हैं। ईरान में थोड़ा बदल गये हैं और हम लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं। 'खुदा' शब्द असल में वैदिक 'स्वधा' शब्द का भाई है। 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा-सम्बन्धी है। 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादूदाँ' हो जायगा। 'कालिका पुराण' म शाबर असुर के नाम पर होने वाले शाबरोत्सव का उल्लेख है, जिसमें अश्लील गाली देना और सुनना जरूरी हुआ करता था। यह उत्सव सावन में मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूप से उसमें भाग लेती थीं। संसार में सभी देशों में एक दिन साल में ऐसा जरूर मनाया जाता है जिसमें अश्लील गाली-गलौज आवश्यक माना जाता है। अपने यहाँ फागुन-चैत में इस प्रकार का उत्सव मनाया जाता है। इसी को मदनोत्सव कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि क्या मदनोत्सव के समान एक और उत्सव इस देश में प्रचलित था जिसके मुख्य उद्योक्ता असुर लोग थे? असुरों के साथ मदन देवता के संघर्ष से क्या इसीलिए दो विभिन्न संस्कृतियों का द्वन्द्व प्रकट होता है? कौन बतायेगा?

आर्यों को इस देश में सबसे अधिक संघर्ष असुरों से ही करना पड़ा था। दैत्यों, दानवों और राक्षसों से भी उनकी बजी थी, पर असुरों से निपटने में उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरह से वे सभ्य थे। उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये थे। महल बनाये थे, जल-स्थल पर अधिकार जमा लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों से आर्यों को कभी विशेष नहीं लड़ना पड़ा। ये जातियाँ अधिक शान्तिप्रिय थीं। विलासिता की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। कामदेवता या कन्दर्प वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। केवल उच्चारण बदल गया है। ये लोग आर्यों से मिल गये थे। असुरों ने इनसे बदला लिया था। पर अन्त तक असुर विजयी नहीं हुए। उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।

लेकिन आम्र-मञ्जरी के साथ बिच्छू का सम्बन्ध अब भी मुझे चक्कर में डाले हुए है। पोथियाँ पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोकप्रवादों को हँसकर उड़ा देने

की शक्ति अभी सञ्चय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादों में मनुष्य-समाज का जीवन्त इतिहास सुरक्षित है। जब कभी लोक-परम्परा के साथ किसी पोथी का विरोध हो जाता है, तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं; पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पण्डितों की बात में मुझे असंगति दिख जाती है। कहने में हिचकता हूँ, नये पण्डितों के क्रोध से डरता हूँ, पर मन से यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पण्डित की बात की संगति लोक-परम्परा से ही लग सकती है। कहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो। एक उदाहरण दूँ।

क्षेमेन्द्र बहुत बड़े सहृदय और बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने बहुत-सी पोथियाँ लिखी हैं। एक का नाम है 'औचित्य-विचार-चर्चा'। उसमें उन्होंने संज्ञा शब्दों के औचित्य के प्रसंग में कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राजा ने विरहातुर अवस्था में कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओं के लिए मचल पड़ने वाला पञ्चबाण (कामदेव) मेरे चित्त को छलनी किये डालता है, अब मलय-पवन से आन्दोलित इन आम्र-वृक्षों ने अंकुर दिखा दिये। अब तो बस भगवान् ही मालिक हैं:

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवार:
प्रथममपि मनो मे पंचबाण: क्षिणोति ।
किमुत मलयवातान्दोलितै: पाण्डुपत्रै
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु ॥

अब सहृदय-शिरोमणि क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यह कामदेव को पञ्चबाण कहना उचित ही हुआ है। कामदेव के पञ्चबाणों में एक तो यही आम्र-मञ्जरी का अंकुर है। लेकिन मैं बिल्कुल उलटा सोच रहा हूँ। मैं कहता हूँ, पञ्चबाण कहने से ही तो आम्र-कोरक भी कह डाले गये, फिर दुबारा उनकी चर्चा करना कहाँ संगत है? मैं अगर अच्छा पण्डित होता तो क्षेमेन्द्र की भी गलती निकालता और कालिदास का भी अनौचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेद के साथ कहता हूँ कि मैं 'अच्छा' पण्डित नहीं हूँ। मेरा मन पूछता है कि क्या कालिदास आम्र-मुकुलों को मदनदेवता के पाँच बाणों में नहीं गिनते थे? वैसे तो संसार के सभी फूल मदनदेवता के तूणीर में आ ही सकते हैं, पर कालिदास के युग में लोक-प्रचलित कोई विश्वास ऐसा अवश्य रहा होगा कि आम पाँच बाणों से अतिरिक्त है। ऐसा न होता तो कालिदास इस श्लोक में 'पञ्चबाण' शब्द का प्रयोग न करते। सबूत दे सकता हूँ। पर सुनता कौन है? कालिदास ने एक जगह आम्र-कोरकों को यह आशीर्वाद दिलाया है कि तुम काम के पाँच बाणों से अभ्यधिक बाण बनो। इस 'अभ्यधिक' शब्द का सीधा अर्थ तो यही मालूम होता है कि पाँच से अधिक छठा बाण बनो। पर पण्डित लोग कहते हैं कि इसका सही अर्थ है पाँचों में सबसे अधिक तीक्ष्ण। होगा बाबा, कौन झमेले में पड़े। क्या अतीत के अन्धकार में झाँकने से कुछ दिख नहीं सकता? मदनदेवता हमारे साहित्य में कब आये और उनके बाणों का भी क्या कोई इतिहास है? और फिर बिच्छू से इसका कोई नाता-रिश्ता भी है क्या?

पुराणों की गवाही पर मान लिया जा सकता है कि असुरों की आखिरी हार अनिरुद्ध और ऊषा के विवाह के अवसर पर हुई थी। असुरों की ओर से भगवान् शंकर का समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्ण से गुँथे थे, प्रद्युम्न अर्थात् कामदेवता स्कन्द (देवसेनापति) से। शिवजी के दल में भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, बेताल थे, विनायक थे, डाकिनियाँ थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे—यानी पूरी सेना थी, साँप-बिच्छू भी रहे होंगे। और तो और, मलेरिया का बुखार भी था। इस लड़ाई में असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। देवताओं के दुर्धर्ष सेनापति को कामावतार प्रद्युम्न से हारना पड़ा। मोर समेत बेचारे भाग खड़े हुए। भागवत में यह कथा बड़े विस्तार से कही गयी है। इसके बाद इतिहास में कहीं असुरों ने सिर नहीं उठाया। शिवजी की सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्न ने आम्र-कोरकों का बाणसन्धान किया और बेचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहास में दबी रह गयी। लेकिन लोग जान गये हैं और बच्चों की दुनिया को भी पता लग ही गया है।

मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। फूल तो दुनिया में अनेक हैं। आम, लेकिन, फूल की अपेक्षा फल-रूप में अधिक विख्यात है। कवि लोगों की बात छोड़िए। वे लोग कभी-कभी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बोलते ही हैं। अपने भीतर जरा-सी सुड़सुड़ी हुई नहीं कि समझ लेते हैं कि सारी दुनिया इसी प्रकार पागल हो गयी है। हम लोग भी जानते हैं कि आम की मंजरी मादक होती है, लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार-मंजरी के केसर से मूर्च्छमान हो और मधुपान के लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों, तो ऐसे भरे वसन्त में किसके चित्त में उत्कण्ठा नहीं लहरा उठती? :

सहकारकुसुमकेसर निकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा?

अब अगर किसी सभा में आप यही सवाल पूछ बैठें, तो प्रायः सौ फीसदी भले आदमी ही 'मम' 'मम' कहकर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनी ही-सी कहे जाएगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखाकर अगर आप पूछें कि इसे पाने की उत्कण्ठा किसे नहीं है, तो सारी सभा चुप रहेगी। बस मन-ही-मन कहेंगे, ऐसा भी पूछना क्या उचित है? आम देखकर किसका जी नहीं ललचायेगा? एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ चीन गये थे। उन्हें आम खाने को नहीं मिला। उन्होंने अपने एक साथी से विनोद में कहा, 'देखिए, मैं जितने दिन तक जियूँ उसका हिसाब कर लेने के बाद उसमें एक साल कम कर दीजिएगा, क्योंकि जिस साल में आम खाने को नहीं मिला उसको मैं व्यर्थ समझता हूँ।' अब तक यह रिपोर्ट नहीं मिली कि किसी कवि ने आम्र-मञ्जरी की सुगन्धि न पाने के कारण अपने जीवन के किसी वर्ष को व्यर्थ समझा हो। तो, मेरा कहना यह है कि आम के फूलों का वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिए। अरविन्द का हो, अशोक का हो, नवमल्लिका का हो, नीलोत्पल का हो, इनमें फल या तो आते ही नहीं या आते भी हैं तो नहीं आने के बराबर । ये कामदेवता के अस्त्र बन सकते हैं; क्योंकि ये अप्सरा जाति के पुष्प हैं। इनका सौन्दर्य

केवल दिखावे का है। कामदेवता के ये दुलारे हो सकते हैं। पर आम को क्यों घसीटते हो बाबा? यह अन्नपूर्णा का प्रसाद है। यह धन्वन्तरि का अमृत-कलश है। यह धरती माता का मधुर दुग्ध है।

मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फल को कोई व्यवहार में नहीं लाता था। सम्भवत: यह भी हिमालय के पार्वत्य देश का जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक और दिगन्त को मूर्च्छित कर देने वाला आमोद ही लोकचित्त को मोहित करते थे। धीरे-धीरे यह फल मैदान में आया। मनुष्य के हाथ-रूपी पारस से छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। गंगा की सुवर्णप्रसू मृत्तिका ने इसका कायाकल्प कर दिया है। मैं आश्चर्य से मनुष्य की अद्‌भुत शक्ति की बात सोचता हूँ। आलू क्या-से-क्या हो गया। बैंगन कण्टकारी से वार्ताकु बन गया। आम भी उसी प्रकार बदला है। न जाने मनुष्य के हाथों विधाता की सृष्टि में अभी क्या-क्या परिवर्त्तन होने वाले हैं: आज जो दुर्भिक्ष और अन्न-संकट का हाहाकार चित्त को मथ रहा है, वह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उस पर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थों को उसने व्यवहार्य बनाया है, कितनी खटाई उसके हाथों 'अमृत' बनी है। कौन जाने यह महान् 'गोधूम' लता (गेहूँ) किसी दिन सचमुच गायों को लगने वाले मच्छरों को भगाने के लिए धुआँ पैदा करने के काम आती हो? निराश होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्व का दुर्जेय प्राणी है।

हाँ, तो उसी बहुत पुराने जमाने में गन्धर्व या (जैसा कि इसका एक दूसरा उच्चारण संस्कृत में प्रचलित है) कन्दर्प देवता ने अपने तरकस में इस बाण को सजाया था। कवियों को उसी आदिम काल का सन्देश वसन्त में सुनायी देता है। लोग क्या गलत कहा करते हैं कि 'जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि?' किस भूले युग की कथा वे आज भी गाये जा रहे है? कालिदास जरूर कुछ झिझके थे। शायद उनके जमाने में सहृदय लोग आम को अरविन्द, अशोक और नवमालिका की पंगत में बैठाने में हिचकते थे। अच्छा करते थे। वात्स्यायन 'कामसूत्र' में जहाँ आम और माधवीलता के विवाह के विशुद्ध विनोद का उत्सव सुझा गये हैं, वहाँ नवाम्रखादनिका या आम के नये टिकोरों को खाने के उत्सव को भूले नहीं हैं। आम की मंजरी विधाता का वरदान है, पर आम का फल मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। मनुष्य प्रकृति को अनुकूल बना देने वाला अद्‌भुत प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्यजनक है, पर इसको समझने के लिए प्रयत्न करने वाला और इसे करतलगत करने के लिए जूझने वाला यह मनुष्य और भी आश्चर्यजनक है। आम्रमञ्जरी उसी अचरज का सन्देश लेकर आयी है। 'उदुमंगल तुमंपसाएमि'!!

6

वसन्त आ गया है

जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ, उसके आस-पास कुछ थोड़े-से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं। जरा-सी हवा चली नहीं कि अस्थिमालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भाँति खड़खड़ाकर झूम उठते हैं। 'कुसुमजन्म ततो नव पल्लवा:' का कहीं नाम-गन्ध भी नहीं है। एक नीम है। जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिह्न उसमें भी नहीं है। फिर भी यह बुरा मालूम नहीं होता। मसें भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्णचूड़ाएँ हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावली में ये आखिरी हैं। इन्हें अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमें कभी आये नहीं, पर ये अभी नादान हैं। भरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानो आषाढ़ ही हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त। दो-तीन अमरूद हैं, जो सूखे सावन भरे भादों कभी रंग नहीं बदलते—इस समय दो-चार श्वेत पुष्प इन पर विराजमान हैं; पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ में भी रहेंगे। जातीय पुष्पों का एक केदार है; पर इन पर ऐसी मुर्दनी छायी हुई है कि मुझे कवि-प्रसिद्धियों पर लिखे हुए एक लेख में संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करबीर और एक कोविदार के झाड़ भी उन्हीं मित्र की कृपा के फल हैं, पर वे बुरी तरह चुप हैं। कहीं भी उल्लास नहीं, उमंग नहीं और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया, प्रकृति रानी नया शृंगार कर रही है, और फिर जाने क्या-क्या! कवि के आश्रम में रहता हूँ। नितान्त ठूँठ नहीं हूँ; पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे? दो कांचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन में हैं। एक ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पड़ोसी के। भाग्य की विडम्बना देखिए कि दोनों एक ही दिन के लगाये गये हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ोसी वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमें फूल नहीं आये और वह कम्बख्त कन्धे पर से फूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है, पर क्या मजाल कि आप उसमें फल के सिवा और कुछ देखें! पत्ते हैं नहीं और टहनियाँ फूलों से ढक गयी हैं। मैं रोज देखता हूँ कि हमारे वाले मियाँ कितने अग्रसर हुए! कल तीन फूल निकले थे। उनमें दो तो एक सन्थाल-बालिका तोड़कर ले गयी। एक रह गया है। मुझे कांचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों की पकौड़ियाँ भी बन सकती हैं। पर दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पेड़ ऐसा सूना पड़ा हुआ है और वह कमजोर दुबला लहक उठा है! कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी!

पढ़ता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ। पढ़ा हूँ, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि-इत्यादि। इधर

देखता हूँ कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसन्त आ गया। पर इन कमबख्तों को खबर ही नहीं! कभी-कभी सोचता हूँ कि इनके पास तक सन्देश पहुँचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता! महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है; पर जामुन कौन अच्छा है! वह तो और भी बाद में फूलता है। और कालिदास का लाड़ला यह कर्णिकार? आप जेठ में मौज में आते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वसन्त भागता-भागता चलता है। देश में नहीं, काल में। किसी का वसन्त पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद। बारह महीने इसका वसन्त-ही-वसन्त है। हिन्दी-भवन के सामने गन्धराज पुष्पों की पाँत है। ये अजीब हैं, वर्षा में ये खिलते हैं, लेकिन ऋतु-विशेष के उतने कायल नहीं हैं। पानी पड़ गया तो आज भी फूल ले सकते हैं। कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता। हिन्दी-भवन के आँगन में बहुत है। कैसा मनोहर नाम है! फूल और भी मनोहर होते हैं। जरा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की। बादल की बात छोड़िए, जरा-सी पुरवैया बह गयी तो इसका उल्लास देखिए। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिये। मैं सोचता हूँ कि इस नाचीज लता को सन्देश कैसे पहुँचता है! थोड़ी दूर पर वह पलाश ऐसा फूला है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि वसन्त आ गया है? मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ, वसन्त आता नहीं ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल कांचनार ले आया है। अपने मोटेराम तैयारी कर रहे हैं, और मैं?

मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया है कि वसन्त आ रहा है, और पास आया बुखार। अपने कांचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी वजह से तो यह नहीं रुका है? कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विज्ञान और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यों बन जाते हैं। कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिए, जो बुद्धिमानों की अक्ल पर आसानी से परदा डाल देता है। जहाँ तक कबीरदास का सम्बन्ध है, उन्होंने अपनी ओर से कारण की ओर इशारा कर दिया था। घर जोड़ने की अभिलाषा ही इस प्रवत्ति का मूल कारण है। लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक नहीं टिके रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्त्ति चाहिए। ये प्रलोभन 'सत्य' कही जाने वाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुए हैं। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जो उनके मार्ग पर चलना चाहता हो, अपना घर पहले फूँक दे:

कबीर खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ।।

घर फूँकने का अर्थ है धन और मान का मोह त्याग देना, भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़ देना और सत्य के सामने सीधे खड़े होने में जो कुछ भी बाधा हो, उसे निर्ममतापूर्वक ध्वंस कर देना। पर सत्यों का सत्य यह है कि लोग कबीरदास के साथ चलने की प्रतिज्ञा

करने के बाद भी घर नहीं फूँक सके। मठ बने, मन्दिर बने, प्रचार के साधन आविष्कार किये गये और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियाँ रची गयीं! इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा कि अपने इर्द-गिर्द के समाज में कोई यह न कह सके कि इनका अमुक कार्य सामाजिक दृष्टि से अनुचित है! अर्थात् विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गयी; सुलह और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया। आगे चलकर 'गुरु-पद' पाने के लिए हाईकोर्ट की भी शरण ली गयी!

यह कह देना कि सब गलत हुआ, कुछ विशेष काम की बात नहीं हुई। क्यों यह गलती हुई? माया से छूटने के लिए माया के प्रपंच रचे गये, यह सत्य है। कबीरपन्थ का नाम तो यहाँ इसलिए आ गया है कि ये बातें कबीरपन्थी साहित्य पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में आयी हैं; नहीं तो सभी महापुरुषों के प्रवर्तित मार्गों की यही कहानी है। माया का जाल छुड़ाये छूटता नहीं, यह इतिहास की चिरोद्घोषित वार्त्ता सब देशों और सब कालों में समान भाव से सत्य रही है।

स्पष्ट ही मालूम होता है कि घर जोड़ने की माया बड़ी प्रबल है और संसार का विरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता है। इतनी प्रबल शक्ति के यथार्थ को उलटा नहीं जा सकता। उसको मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है। स्वयं कबीरदास ने न जाने कितनी बार इस प्रबल माया की शक्ति के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है:

ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनिया चुनि-चुनि मारे काहु न राखे नेरा हो।
गौरी पीर दिगम्बर मारे ध्यान धरते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे माया किन्हु न भोगी हो।
वेद पढ़ंते बेदुआ मारे पूजा करते स्वामी हो।
अरथ विचारत पंडित मारे बाँधे सकल लगामी हो।
इत्यादि।

मैं ज्यों-ज्यों कबीरपन्थी साहित्य का अध्ययन करता गया, त्यों-त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबर्दस्त साबित हुआ है। उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है। केवल कबीरपन्थ में ही ऐसा नहीं हुआ है। सब बड़े-बड़े मतों की यही अवस्था है। समाज व मान-प्रतिष्ठा का साधन पैसा है। जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है। पन्थ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए। जो लोग इस आकर्षण को न काट सकने वालों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं।

मैं बराबर सोचता रहा कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि समाज से पैसे का राज खत्म हो जाय! हमारे समस्त बड़े प्रयत्न इस एक चट्टान से टकराकर चूर हो जाते हैं। क्या कोई ऐसी अवस्था हो सकती है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मतलब भर

का पैसा पा जाय और उससे अधिक पा सकने का कोई उपाय ही न हो? यदि ऐसा हो सकता तो वह समूचा बेहूदा साहित्य लिखा ही न जाता, जो केवल ग्रन्थों और उनके प्रवर्त्तकों की महिमा बढ़ाने के उत्साह में बराबर उन बातों को ढँकने का प्रयत्न करता है, जिन्हें पन्थ के प्रवर्त्तक ने कठिन साधना से प्राप्त किया था। पुराने तान्त्रिक आचार्यों ने बताया था कि जो राग बन्धन के कारण होते हैं, वे ही मुक्ति के भी कारण होते हैं। काम-क्रोध आदि मनोवृत्तियाँ, जिन्हें शत्रु कहा जाता है, सुनियन्त्रित होकर परम सहायक मित्र बन जाती हैं। क्या कोई ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं बन सकती, जिसमें 'घर जोड़ने की माया' जीती भी रहे और सत्य के मार्ग में बाधक भी न हो?

मेरा मन कहता है कि यह सम्भव है।

7

नाखून क्यों बढ़ते हैं?

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं, बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अकसर उन्हें डाँटा करते हैं। पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिए, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे; पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर! आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं?

कुछ लाख ही वर्षों की बात है, जब मनुष्य जंगली था; वनमानुष जैसा। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षा के लिए नाख़ून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ की डालें काम में लाने लगा (रामचन्द्रजी की वानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियों के भी हथियार बनाये। इन हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार बनाये। जिनके पास लोहे के अस्त्र और शस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों के राजा के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ

थीं, पर लोहे के अस्त्र नहीं थे, शायद घोड़े भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थीं। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते-वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बमवर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है। पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वञ्चित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नखदन्तावलम्बी जीव हो—पशु के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।

ततः किम्! मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों को नाखून न काटने के लिए डाँटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखून को जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं, नहीं जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है! मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ! नाखून काटने से क्या होता है? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती जा रही है! मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकाण्ड बार-बार थोड़े ही हुआ है? यह तो उसका नवीनतम रूप है! मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिए उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जमके सँवारता था। उनके काटने की कला काफी मनोरञ्जक बतायी गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़ देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखों को। अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी! लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खींचने वाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकता।

मानव-शरीर का अध्ययन करने वाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भाँति मानव-शरीर में भी बहुत-सी अभ्यासजन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं।

दीर्घकाल तक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीर के अनजान में भी, अपने-आप काम करती हैं। नाखून का बढ़ना उसमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है, दाँत का दुबारा उठना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है। और असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियों को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर की, मन की और वाक् की अनायास घटने वाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है? सोचना तो क्या, उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। उन्हें काटने की जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्व को छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? अस्त्र बढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर? मेरी निर्बोध बालिका ने मानो मनुष्य-जाति से ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ—जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं?—ये हमारी पशुता की निशानी है। भारतीय भाषाओं में प्राय: ही अंग्रेजी के 'इण्डिपेण्डेन्स' शब्द का समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता। 15 अगस्त को जब अंग्रेजी भाषा के पत्र 'इण्डिपेण्डेन्स' की घोषण कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इण्डिपेण्डेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंग्रेजी में कहना हो, तो 'सेल्फडिपेण्डेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अंग्रेजी की अनुवर्त्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सका? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता—उन सबमें 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है? मुझे प्राणि-विज्ञानी की बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृत्तियों का ही नाम है। स्वराज होने के बाद स्वभावत: ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों-रात अनजान जंगल में पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल हैं। हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। उपकरण

नये हो गये हैं और उलझनों की मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के बन्धन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। अपने आप पर अपने-आपके द्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो-कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वाञ्छनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली 'बँदरिया' मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्सा के नशे में चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं, और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। सो, हमें परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसञ्चित भण्डार में वह हितकर वस्तु निकल आये, तो इससे बढ़कर और क्या को सकता है?

जातियाँ इस देश में अनेक आयी हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेम-पूर्वक बस भी गयी हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करकें चलनेवाली इन जातियों के लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बन्धनों से अपने को बाँधना। मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है! आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दु:ख के प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के स्वयं के उद्‌भावित बन्धन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टण्टे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है एवं वचन, मन एवं शरीर से किये गये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी भी जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्यमात्र का धर्म है। महाभारत में इसीलिए निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है:

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन पृ०, 120 . 10)। गौतम ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके दु:ख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित्त बन्धन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर

आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढ़ाओ, और धन की वृद्धि करो और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा था—बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो; आत्म-तोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा—प्रेम ही बड़ी चीज है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृंखलता पशु की प्रवृत्ति है, 'स्व' का बन्धन मनुष्य का स्वभाव है। बूढ़े की बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गयी; आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठकर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जबकि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणि-शास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गयी है। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जायेगी। शायद उस दिन वह मारणास्त्रों का प्रयोग भी बन्द कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछनीय जान पड़ता है कि नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मारणास्त्रों के संचयन से, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बर के साथ सफलता का नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबसे मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्ध सहजात वृत्ति का परिणाम है, जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस स्व-निर्धारित, आत्म-बन्धन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।

नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

8

जबकि दिमाग खाली है

जबकि दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तब शास्त्र-चर्चा अच्छी नहीं लगती। मेरी अवस्था आज ऐसी ही है। अभी उस गठीले बदन वाले पठान युवक को देख चुका हूँ। हींग बेचने आया था। विराट् शरीर, सौम्य मुख, निर्भय नेत्र और 'कुछ परवा नहीं' चेहरा। बोला, "बाबूजी, उस ऊँची कोठी वाले बँगले में कौन रहता है?" उसका मतलब 'उत्तरायण' से था। फिर बिना जवाब पाये ही पूछ बैठा, "वह हिन्दू तो नहीं जान पड़ता, बाबू! क्या मुसलमान है?"

मैंने जवाब दिया, "नहीं।"

"ईसाई है?"

"नहीं"

"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं?"

"हाँ।"

"तो क्या हिन्दू है?"

"कह सकते हो।"

सवाल गुरुदेव के बारे में पूछे जा रहे थे। मैं अन्यमनस्क-भाव से जवाब दे रहा था। पठान युवक मेरी उदासीनता से कुछ रूठ-सा गया। अब व्यर्थ की बात न पूछकर उसने काम की बात पूछी—

"वह हींग तो खाता होगा, बाबू?"

"मैं क्या जानूँ!"

उसने अधिक रुकना उचित नहीं समझा। सलाम करके चलता बना। पर मेरे कानों पर अब भी उसके शब्द रेंग रहे हैं—"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है?" इस अभागे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिन्दू होता है। यह पठान-युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूँकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिन्दू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अंशों का सम्पादन किया था; पर चूँकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिन्दू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ्र है।

पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती है, क्योंकि वह हिन्दू नहीं है और जो हिन्दू नहीं, उसके लिए अपने पूर्वजों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। यह विचित्र युक्ति है। अफसोस मैं नहीं करता। हिन्दू कहलाने वाले जीवों की बात कम विचित्र नहीं है, कभी-कभी तो ऐसी विचित्र बातें दुनिया के किसी भी कोने में नहीं मिल सकतीं। यहाँ लोगों को कुत्ते-बिल्ली से भी बदतर माना जाता है, क्योंकि वे हिन्दू होते हैं। यहाँ विधवाओं को

फुसलाया जाता है और गर्भपात भी कराया जाता है, क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ वेश्याओं को मन्दिर में ले जाया जाता है, पर सती अन्त्यज-रमणियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता, क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ अन्याय को न्याय कहकर चला दिया जाता है। इस समाज के भीतर इतनी दुर्बलताएँ, इतनी अव्यवस्थाएँ, इतने मिथ्याचार हैं कि यह समाज मरने को बाध्य है। हिन्दू माने—हिन्दू भावाभाव! पुराने जमाने के अपोहवादी फिलासफरों का मत था कि किसी पदार्थ को अभाव के रूप में ही बताया जा सकता है अर्थात् घट का सच्चा परिचय यह है कि जो घट के अभाव का अभाव है। पठान युवक ने आज मेरे दिमाग के अपोहवादी दार्शनिक को उत्तेजित कर दिया। मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं का परिचय अभाव के रूप में ही दिया जा सकता है। लेकिन यह भी कैसे मान लिया जाए? शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, स्तोत्रों और कर्मकाण्डों के विधि-निषेधों से भरे इन पोथों को हम अभाव कैसे मान लें? काव्यों, नाटकों, चम्पुओं, आख्यायिकाओं और कथाओं के अमरलोक को निर्माण करने वाली इस जाति को अभाव कैसे मान लें?

लेकिन जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हो, तो शास्त्र-चर्चा रुचती नहीं। नहीं तो, जिस जाति ने एक बार वक्षुतट से महाक्षोण तक का एकच्छत्र राज्य किया था, जिसकी संस्कृति महापर्वतों को लाँघकर और महासमुद्रों को तैरकर भी विजय-ध्वजा फहरा सकी थी, जिसकी विजय-वाहिनी पूर्वापर समुद्रों के भीतर सिंहनाद करती रही, उसके विषय में इतना चिन्तित हो जाने की कोई जरूरत नहीं। यह ठीक है कि पाणिनी की सन्तान आज हींग बेचती है ओर कुमारजीव के सगे सम्बन्धी आज सीमान्त के हिन्दुओं की बहू-बेटियों का व्यवसाय करते हैं और इस बात को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहारभूमि में आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का ताण्डव हो रहा है जो चित्त को मथे बिना नहीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रक्त बचा तो है। आज नहीं तो कल वह अपना प्रभाव फैलायेगा ही, लेकिन मैं दूसरी बात सोचता हूँ। कहते हैं, 'फलेन परिचायते वृक्षः'—अर्थात् दरख्त की पहचान फल से होती है। आज जो हिन्दुओं की दुरवस्था है, वह है तो उसी बहुविघोषित समृद्धिकालीन सभ्यता का परिणाम। कैसे कहूँ कि वह अच्छी थी, जबकि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नजर आ रहा है।

समृद्धि काल! सचमुच ही वह समृद्धि का युग था। उज्जयिनी के सौधवातायनों से झाँकते हुए चन्द्रवदनों के अलकार्षित रक्ताशोक और श्रवणदत्त कर्णिकार अब भी भूले नहीं हैं, सिप्रा की चटुल-कुवलय-प्रेक्षि दृष्टि की मोहिनी अब भी सद्योसृष्ट स्वप्न की भाँति मदमत्त कर रही है, हिमालय के कुंजरबिन्दुशोण भूर्जत्यक् अब भी किन्नर वधुओं के अनंग लेखों की याद दिला देते हैं, अलका के अलक्तकांकित मार्ग अब भी कचोट रहे हैं। सचमुच ही वह समृद्धि का काल था और उसी समृद्ध विलास के बीच-बीच से कुभा और सिन्धु के तट पर हूणवाहिनियों का हंकार और आर्यों का असफल प्रतिरोध; पंचनद से साकेत तक आतंकध्वस्त जनपद का विकास-कोलाहल और फिर दुर्धर्ष दमन में कृत-संकल्प विक्रमादित्य का भीम गर्जन, सभी कुछ साफ दीख रहा है, साफ सुनायी दे रहा है।

मगध और अवन्ती की केन्द्रीय शक्ति और नागरिक समृद्धि सचमुच बेजोड़ थी। उस नागरिक के एक हाथ में तलवार थी और दूसरे में प्रिया के रभसालिंगन से पीड़ित कालागुरुमंजरी की प्रतिच्छवि। उसकी एक आँख से आग बरसती थी और दूसरी से मदिरा। परन्तु उसके जनपद पंगु थे। पौरों और जानपदों का यह अन्तर निरन्तर बढ़ता गया। एक के लिए काव्य और काम-सूत्र लिखे गये, दूसरे के लिए पुराण और स्मृत्तियाँ। एक विलासिता की ओर खिंचता गया, दूसरा शास्त्र-वाक्यों की ओर। एक इसका आश्रय बनता गया, दूसरा मजाक और अवहेलना का विषय। खाई बढ़ती गयी। हूणों ने इसका फायदा उठाया, शकों ने फायदा उठाया, तातारों ने फायदा उठाया, मुसलमानों ने फायदा उठाया, अंग्रेजों ने फायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गयी, बढ़ती ही गयी। आज वह छरहरे बदन का पठान युवक सहज ही कह गया कि 'मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है?' मैं बार-बार सोच रहा हूँ। खाई क्या और भी बढ़ती नहीं जा रही है? मगर शास्त्रों को इससे कोई मतलब नहीं और मुझमें इतना साहस नहीं कि इस प्रसंग पर नये सिरे से सिर खपाऊँ। जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तो इतना ही सोच लेना क्या गनीमत नहीं है?

9

शव-साधना

कई बार मेरे मन में यह बात आयी है कि प्राचीन युग के अध्येता जिस महान् तान्त्रिक साधना में लगे हैं, उसका रहस्य क्या उन्हें मालूम है? कुछ को जरूर मालूम होगा, सब तो शायद नहीं जानते।

जड़ तत्त्वों का सर्वाधिक सामंजस्यपूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है। जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है, जब तक वह विशुद्ध जड़ तत्त्व नहीं कहा जा सकता; परन्तु जब जीव उसमें से निकल जाता है तो साथ-ही-साथ मन, बुद्धि आदि तत्त्व भी उसमें से निकल जाते हैं, यहाँ तक कि प्राण-वायु के दस भेदों में से केवल एक धनंजय को छोड़कर बाकी नौ भी निकल जाते हैं। उस समय शव सम्पूर्ण क्रियाहीन, राग-विराग से रहित, इच्छाद्वेष से विनिर्मुक्त, धर्म-अधर्म से परे हो जाता है। वह साक्षात् आनन्द-भैरव का प्रतीक होता है। साधक जब शिवानन्द और परमानन्द की अवस्था में होता है, तब वह इसी प्रकार इच्छा-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म से परे एक अनुभवैकगम्य अवस्था में होता है। उस साधक से इस शव का भेद है, परन्तु जो शक्ति में विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि उचित संघात ही नयी-नयी शक्तियों का जन्मदाता है। शव में वह संघात प्रायःपूर्ण है; इसीलिए शाक्त साधक शव को साधना का उत्तम साधन मानते हैं। इस शव का परिपूर्ण

जड़ संघात होना आवश्यक है; रोग से, व्याधि से, जहर खाकर और मानसिक सन्ताप से कातर होकर जिसने प्राण खोये हैं, उसका शव ग्रहणीय नहीं होता। युद्ध में लड़ते-लड़ते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने अपने को बलि कर दिया, जीवितावस्था में जिसके चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ी, उसी का शव साधना में ग्रहणीय माना गया है। यह शव निष्क्रिय शव का उत्तम प्रतीक है, साधक चण्डिका के संचार से उसे सक्रिय बनाता है। शुरू में ही वह शव की स्तुति करता है:

वीरेश परमानंद शिवानंद कुलेश्वर।
आनंदभैरवाकार देवीपङ्क शङ्कर।
वीरोऽहं त्वां प्रपद्याम् उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने।

—भावचूड़ामणि

मुझे एक तान्त्रिक साधक ने बताया है कि शव का मुँह नीचे कर दिया जाता है और साधक उसकी पीठ पर बैठकर विविध मन्त्रों का जप करता है। सिद्धि प्राप्त होने के पहले अनेक विघ्न होते हैं। जो साधक डर जाता है, वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जो विचलित नहीं होता वह अन्त में विजयी होता है। जब शव-देह में चण्डिका का आवेश होता है, तो उसका मुँह घूमकर साधक की ओर हो जाता है और साधक से वह बातचीत करने लगता है; उस शव के मुख से ही चण्डिका साधक को वर देती हैं। परन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों में बताया गया है कि शव जैसे-का-तैसा पड़ा रहता है, आकाश में देवता नाना भाँति के प्रलोभन के वाक्य उच्चारण करते हैं। साधक अविचलित रहकर उन्हें प्रतिज्ञापाश में बद्ध करता है और तब कहीं जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साधक जड़-संघात के सर्वोत्तम मूर्तरूप इस शव के गठन को ठीक-ठीक जानता है, वही सिद्धि पाता है। शव जीवित नहीं होता, परन्तु तन्त्र-ग्रन्थ में बताया गया है कि प्रसन्न होने पर शव जो कुछ दे सकता है वह कोई जीवित व्यक्ति नहीं दे सकता, क्योंकि शव साक्षात् निष्क्रिय शिव का स्वरूप है। वह इच्छा-द्वेष से परे, परमानन्दस्वरूप है। वह उस शङ्कर (निष्क्रिय) का प्रतीक है जो देवी के विकराल ताण्डव के पादपीठ हैं।

मैं जब-जब अपने देश के प्राचीन आचार-विचार और क्रियाकलाप के अध्येताओं को देखता हूँ, तब-तब मुझे इस तान्त्रिक शव-साधना की बात याद आती है। शवसाधक शव को ही अपना लक्ष्य यहीं मानता, परन्तु फिर भी शव का कितना आदर उसके चित्त में होता है। मरे हुए जमाने की पीठ पर बैठकर जो पण्डित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं, वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह युग हमें दण्ड नहीं दे सकता, उस युग का उदार नरेश किसी पण्डित को प्रति अक्षर पर लक्ष-लक्ष का दान नहीं दे सकता, उस युग की कोई सुन्दरी अपने विच्छित्ति-शेष वर्णों से—सिंगारदान के बचे हुए रंगों से—अपने अञ्चल पर हमारी यशोगाथा नहीं लिखती, उस युग का कोई हूण हमारे नगरों और शस्यक्षेत्रों को आग में नहीं झुलसा देता—वस्तुत: उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म हमें स्पर्श नहीं कर सकता। फिर भी वह युग हमें आनन्द

के अद्‌भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौन्दर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, जयस्तम्भ, राजप्रासाद और दुर्गप्राकार इस प्रकार खड़े हुए हैं मानो हँसते-खेलते उन्हें बिजली मार गयी हो; मानो सम्मुख युद्ध में उन्हें किसी ने काट डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा?

परन्तु हमारे प्राचीन ज्ञान का लक्ष्य क्या सभी साधकों को मालूम है? प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नहीं सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना हमें सिद्धि नहीं मिल सकती। जितना ही हम उसे समझेंगे उतना ही स्पष्ट होगा कि यह निष्क्रिय शिव आनन्दभैरवाकार है, परमानन्दस्वरूप है, क्योंकि इसके भीतर से हम जो आनन्द पाते हैं वह इच्छा-द्वेष से परे, राग-विराग से विनिर्मुक्त है। परन्तु वह समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही है तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृत शव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पायेगा। शास्त्रज्ञान का लक्ष्य शास्त्रज्ञान नहीं है। इस प्राचीन युग के आचार-विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार-विचार नहीं है, लक्ष्य है भविष्य का युग। हमारे समूचे प्राक्तन तत्त्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है। शव-देह में शक्ति संचार होने से ही भावी सिद्धि प्राप्त होती है। शव-देह की अच्छी जानकारी हर हालत में अपेक्षित है। इसी प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों, रीतियों, क्रियाओं, आचारों के अध्ययन का लक्ष्य भविष्य होना चाहिए। यदि कोई पण्डित समझता है कि पुराना जमाना जी जायेगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित हो जायेंगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसने अपनी साधना का रहस्य नहीं समझा है। इन सबका लक्ष्य है इस युग के कोटि-कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षिता, दरिद्रता, अज्ञान और शोषण से मुक्त करना। यह क्या सम्भव है?

शव की पीठ पर मन्त्र-तन्त्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है, शव तब भी शव है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने अपने गम्भीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा-गुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है, यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी बाह्यचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का फल मुक्ति है। प्राचीन ज्ञान के उपासकों में से थोड़े ही इस रहस्य को समझ पाते हैं। मुक्ति किससे? जड़ता से, अज्ञान से, परमुखापेक्षिता से, दम्भ से, अहंकार से, दासत्व से। ज्ञान का लक्ष्य यही है।

हमारा यह देश नौसिखुआ नहीं है। उसके ज्ञान-विज्ञान का इतिहास विशाल है। उ[illegible] खोहों और भग्नावशेषों में प्रेरणा का समुद्र लहरा रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य

जड़ तत्वों के इतने परिपूर्ण संघात हमारी साधना के लिए देश के कोने-कोने में बिखरे पड़े हैं। अन्य किसी भी देश को शायद ही इतनी परिपूर्ण साधन-सामग्री प्राप्त हो। हम यदि निष्ठा और प्रेम के साथ इस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग भविष्य-निर्माण के लिए करें, तभी कल्याण है। केवल इन सामग्रियों को ही लक्ष्य मान लेना गलती है। इनके ज्ञान-मात्र से सिद्धि नहीं मिलेगी, यद्यपि इनकी सूक्ष्म और ठीक-ठीक जानकारी परम आवश्यक है। प्राचीनता का अध्ययन उत्तम शव-साधना है। उसमें पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है, प्रतिक्षण अपने लक्ष्य को याद रखने की आवश्यकता है और सदा-सर्वदा कठोर संयम और अपार साहस का होना जरूरी है।

10

ठाकुरजी की बटोर

इस गाँव में हिन्दुओं के सौ घर हैं, मुसलमानों के पन्द्रह। धनी-मानी हिन्दू ही हैं, गरीब कहाने योग्य मुसलमान ही। फिर भी गाँव के ठाकुरबारी और मस्जिद में बड़ा अन्तर है। मस्जिद जगमगायी रहती है, ठाकुरबारी में भूत रेंगते रहते हैं। मैं मस्जिद को भी खुदा का 'अपना' घर नहीं मानता और ठाकुरबारी को भी ठाकुरजी का एकमात्र मन्दिर नहीं समझता। इस बार तीन वर्ष पर घर लौटा तो मालूम हुआ, एक साधु ठाकुरजी की पूजा साल-भर से कर रहे हैं, पर दोनों शाम भोजन कर सकने-भर का अन्न उन्हें नहीं मिल पाता। एक दिन जब मेरे एक ग्रेजुएट मित्र साधु को साथ लेकर मेरे पास आये और ठाकुरबारी की दुरवस्था का सजीव वर्णन किया तो मैं उनकी प्रस्तावित सभा में, जहाँ ठाकुरजी के राग-भोग की व्यवस्था करने का विचार होने वाला था, उपस्थित रहने और यथासम्भव सहायता देने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध हो गया। स्थानीय भाषा में इसी प्रस्तावित सभा का नाम रखा गया 'ठाकुरजी की बटोर'।

तीन बार घण्टा-ध्वनि के साथ विज्ञापन करने और अनेक सज्जनों को अनेक बार व्यक्तिगत रूप से अनुरोध करने पर भी जब सभा-स्थल पर कुछ बच्चों के सिवा और कोई नहीं आया, तो मैं कुछ उद्विग्न हो गया। मैं सोचने लगा, लोग ठाकुरजी के प्रति इतने उदासीन क्यों हैं? हिन्दुओं में धर्मभावना क्या लुप्त हो गयी है? मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि जिन देवता के मन्दिर के सामने बैठा हुआ हूँ, उसकी छत्रछाया तीन हजार वर्षों से कोटि-कोटि नर-नारियों को शान्ति-दान कर रही है। सिन्धु उपत्यका में के किसी अर्धदेवत्व-प्राप्त अनार्य वीर ने या उत्तरी प्रान्तों के उपास्य किसी बाल-देवता ने युग-प्रतिष्ठित भागवत-धर्म में परम-देवता का स्थान प्राप्त किया। तब से सैकड़ों बर्बर अनार्य जातियाँ उसके पावन नाम से उसी प्रकार हत-दर्प होकर शान्त जीवन बिताने लगीं जिस प्रकार

मन्त्रौषधि के प्रयोग से उपगत-ज्वर महासर्प। मैंने मानो स्पष्ट देखा कि भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी किनारे से चींटियों की तरह सेनाएँ घुस रही हैं; लूट-पाट, नोच-खसोट, मार-पीट, कुछ भी उसके लिए असम्भव नहीं है। किसी सैन्यदल के रक्त-कलुष हाथों में तीक्ष्णफलक कुन्त है, किसी के खर-धार तलवार। देखते-देखते समृद्धि-शाली नगर जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं, बच्चे माताओं की गोदी से छीनकर पटक दिये जाते हैं, तरुणियों का दल ढोरों की भाँति हाँककर ले जाया जा रहा है—सारा उत्तरी भारत क्षण-भर के लिए श्मशान की तरह हो जाता है। फिर मैंने देखा, यही जातियाँ यहीं बस जाती हैं और पचास वर्ष बाद अपने सिक्कों पर अपने को परम भागवत कहने में गर्व अनुभव करती हैं। इतना शीघ्र इतना विकट परिवर्त्तन! सचमुच उस देवता के सामर्थ्य का अन्दाजा लगाना मुश्किल है, जिसने एक नहीं, दो नहीं, बीसियों आर्येतर बर्बर जातियों को आचार-निष्ठ, शान्त भक्त बना दिया। भागवत का श्लोक मन-ही-मन गुनगुनाते हुए मैंने उस महावीर्य देवता को मन-ही-मन प्रणाम किया:

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा-
आभीर-कंकाः यवनाः खसादयः;
येऽन्येऽपि पापास्तदपाश्रयाश्रयात्
शुद्ध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।

मैं सोचता ही गया—आज हम बौद्ध-संस्कृति की सम्पूर्ण जानकारी के लिए तिब्बत, चीन, जापान, श्याम देशों की ओर टकटकी बाँधे हैं; एक दिन ऐसा भी था जबकि पश्चिमी प्रान्तों में—गन्धार, पारस्य, शकस्थान में—इसी महावीर्य देवता के नाम और महिमा का कीर्त्तन होता था, भावावेश में लोग दरविगलित नेत्रों से महाविष्णु का स्मरण करते थे—वह दिन आज बीत गया है। पश्चिम में एक स्वतः सम्बुद्ध धर्म-भावना का अवतार हुआ जिसके हाथ में दृढ़-मुष्टि कठोर कृपाण थी, और दूसरे में समानता के आश्वासन का अमृत वरदान। उसका प्राणदेवता अन्तर्मुख था। पर वह अपनी परिधि पर अक्लान्त भाव से चक्कर मार रहा था। उसने किसी से समझौता नहीं किया, किसी को मित्र नहीं माना, जो सामने आया उसी को ललकारा, जिधर लपका उधर ही काल-चक्र घूम पड़ा! वह इसलाम था। इसी इसलाम ने पश्चिम में इस महावीर्य देवता को उखाड़ फेंका। विजय-गर्व से स्फीत-वक्ष इसलाम निर्भीक भाव से आगे बढ़ता गया, जिसने उसे आत्म-समर्पण किया वही उसके रँग में रँग गया, अरब से लेकर गन्धार तक एक ही विजय-ध्वजा बार-बार प्रकम्पित होकर धरित्री का हृदय कम्पित करने लगी। आज हम उस कुचली हुई संस्कृति के लिए इन देशों की ओर ताकने की कुछ आवश्यकता ही नहीं समझते।

हाँ, जिस मन्दिर के सामने बैठा हुआ मैं उसके उपासकों की प्रतीक्षा में समय बिता रहा हूँ, वह उसी महावीर्य किन्तु पराजित देवता का प्रतीक है। उसके उपासक एकाधिक बार कुचले गये हैं, लूटे गये हैं, नोचे गये हैं, और तंग किये गये हैं। वे थके हुए निर्वीय, निस्पेषित उपासक हैं। उपासक के तेज से ही उपास्य तेजस्वी

होता है। देवता का यह प्रतीक भी तेजोहीन, वीर्यहीन और निष्प्राण है।

इसी समय मैंने देखा, हमारी आशा-लता को लहलहाते हुए तीन वृद्ध हिन्दू सभास्थल में उपस्थित हुए। उन्होंने माथे की पगड़ी उतारी और अपना अनाडम्बर प्रणिपात ठाकुरजी को निवेदित किया। मन-ही-मन मैं सोचने लगा, आज भी करोड़ों हिन्दू इसी प्रकार अनाडम्बर भाव से गम्भीर विश्वास के साथ ठाकुरजी को प्रणाम करके शान्ति पाते हैं। कौन कहता है कि वह महावीर्य देवता तेजोहत हो गया है! विजयस्फीत इसलाम उसको कुचल नहीं सकता। आज गन्धार मुसलमान हो गया है, उसे इसलाम का अमृत वरदान प्राप्त हो गया है, तो क्या हुआ? इसलाम के आने के पहले विद्या और ज्ञान का महापीठ गन्धार आज मुसलमान होकर बदल गया है। पाणिनि और यास्क की सन्तान आज भारतवर्ष में हींग बेचती फिरती है। इसलाम की इससे भयंकर पराजय और क्या हो सकती है? वैदिक ऋचाओं के बनाने वाले ऋषियों की सन्तान का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है? मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि पाणिनि और यास्क, चरक और सुश्रुत, पतञ्जलि और व्यास स्वर्ग में अत्यन्त उदास बैठे हैं। भृकुटियाँ किञ्चित् कुञ्चित् हो गयी हैं, विशाल ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट दिख रही हैं, आँखे छलछला आयी हैं—हाय, इसलाम, तुम कब देख सकोगे?

मुझे ऐसा लगा, इसलाम ने मेरी बात सुन ली है। उसके हाथ तलवार की मूठ पर ठीक ही बैठे हैं, मूर्त्ति अत्यन्त उग्र है पर क्रूर नहीं। मुझे उस मूर्त्ति में वीरता का तेज दिखा, देर तक उस पर आँख ठहर नहीं सकती। इसलाम ने शान्त गम्भीर स्वर में कहा—'तुम ठीक कहते हो, पर तुम्हारे लगाये हुए अभियोग की मुझे बिल्कुल परवा नहीं। मैं संस्कृति फैलाने नहीं आया, मैं कुछ तोड़ने आया हूँ। हजारों को दास बनाकर, लाखों को दलित और अस्पृश्य बनाकर जिस संस्कृति का जन्म होता है वहाँ कुफ्र का प्राबल्य होता है। मैं उसे साफ करने आया हूँ। इस असम व्यवस्था के साथ मेरा समझौता नहीं हो सकता। जिस सैकड़ों कच्चे-पक्के रंग के बेमेल पट को तुम कला का श्रेष्ठ निदर्शन मानते हो, उसे मैं भद्दे दागों का एक हास्यास्पद प्रदर्शन समझता हूँ; मैं धरती को एक पक्के रंग में रँगी देखना चाहता हूँ, भले ही वह रंग नीला हो। आज इसलाम की ध्वजा से धरती काँप रही है, क्योंकि उसमें भीरुता है, उसमें भेद-भाव है, उसमें भ्रान्ति और त्रुटि है। इसलाम का विजयतूर्य इस भीरुता, इस भेद-भाव और भ्रान्त त्रुटि को दूर करके ही चुप होगा। समझौता करना डरपोकों का काम है, इसलाम डरपोक नहीं है, वह मरना भी जानता है और मारना भी जानता है। संस्कृति के विनाश की आशंका से पद-पद पर सन्त्रस्त बुद्धिमान कहे जाने वाले लोग कायर हैं।'

मैंने जरा विस्मय और आशंका के साथ जवाब दिया—'संसार को एक रंग में रँगने का प्रयत्न क्या मनुष्यता के वैचित्र्यपूर्ण विकास में बाधा पहुँचाना नहीं है? चमेली को गुलाब बनाने का प्रयत्न या चमेली और गुलाब दोनों को कुछ विचित्र-सा एक-रंगा फूल बनाने का प्रयत्न क्या श्रेयस्कर है? यह तो स्वयं ही एक भयंकर कुफ्र है।' इसलाम ने गरजकर जवाब दिया—'शक्तिहीन ऐसी बातें कहा करते हैं, निर्वीर्य ऐसी बातें सुना करते

हैं। तुममें मेरे कथन का सत्य अर्थ ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, उसे धैर्य के साथ समझ सकने का साहस नहीं है। उपमाओं और रूपकों का सहारा लेकर प्रकृत अर्थ को विकृत करना दुनिया के बुद्धिमान कहे जाने वाले लोगों का एक व्यवसाय है। तुमने मेरी सीधी-सी बात का विकृत अर्थ लगाया है। मैं कभी नहीं कहता कि गुलाब और चमेली को एक कर दिया जाय। मैं कहता हूँ गुलाब और चमेली हों—या आम और धतूरे, सबको एक ही समान खुला आसमान, एक ही समान खाद और पानी की सुविधा, एक ही समान यत्न और उपचार प्राप्त होने चाहिए।' इसलाम की उग्र मूर्त्ति पर जरा-सा स्मित हास्य दिखायी पड़ा, वह मानो अवहेलना के साथ बड़ी संस्कृतियों का मजाक उड़ाना चाहता था। मैंने फिर बुद्धि का आश्रय लेते हुए पूछा—'ऐसे भी तो पौधे हो सकते हैं जो गुलाब और चमेली के अनुकूल खाद पाकर ही मुरझा जायें? कुछ पौधे पानी से बढ़ते हैं, कुछ पानी से ही मर जाते हैं। उनका क्या उपाय होगा?' इसलाम ने इस बार कड़ककर जवाब दिया—'मर जायँ तो मर जाने दो; मुझे परवा नहीं। जो तीन लोक से न्यारे हैं, उनका न रहना ही अच्छा है। उनके रहने से बाकी दुनिया को कष्ट होगा। और देखो, तुम अधिक तर्क न करो। यह शक्तिहीन का लक्षण है। इस वज्रमुष्टि महाकृपाण को देखो। इसलाम इस पर भी पूर्ण विश्वास करता है। यही भगवान् का वरदान है, मनुष्यता का रक्षक है, इसलाम अपने कृपाण पर कभी सन्देह नहीं करता।' यह कहकर एक अजब मस्ती के साथ मुस्कराता हुआ इसलाम ऊपर की ओर उठा, मानो वह जगत् की सारी जड़ता, समस्त अन्धकार, सारे जंजाल को विध्वस्त कर सकने के महाव्रत में अपने-आपके सामने किसी दूसरे को नहीं मानना चाहता, मानो उसकी सफलता निश्चित है, मानो वह अद्वितीय कर्मठ योद्धा है।

संस्कृति क्या है? मैं जरा उद्विग्न भाव से सोचने लगा। मुझे एक बार याद आये वैदिक युग के कर्मकाण्ड-पटु ऋत्विजों के दल, जो प्रत्येक कुश और पल्लव के स्थान, पात्र और विधान के विचार में गम्भीर भाव से सतर्क थे। फिर याद आयी उपनिषत्-कालीन ऋषियों की, जो बड़ी गम्भीरता के साथ मौन भाव से चिन्तन कर रहे थे कि क्या होगी वह चीज जिसे पाकर हम अमृत नहीं पा सकते। फिर याद आये काषाय-धारी बौद्ध भिक्षु, जो 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' घर-बार छोड़कर उत्तुंगशैल-शिखर और भीमकाय महासागर लाँघ रहे थे, और अन्त में याद आयी, उज्जयिनी के सौध-गवाक्षों से लीला-कटाक्ष-क्षेपिणी पौर-विलासिनियाँ। देखते-देखते मेरी कल्पना ने मध्ययुग की आतंकग्रस्त हिन्दू संस्कृति को सामने खड़ा कर दिया—निराभूषणा, संकुचिता, अवमानिता, विक्षुब्धा। उसमें कर्मकाण्ड-काल की सजीवता नहीं थी, उपनिषत्काल की स्वतन्त्र चिन्ता नहीं थी, बौद्ध-काल की दुर्वार करुणा-भावना नहीं थी, काव्य-काल की सुखमय विलास-सज्जा नहीं थी। इसलाम के आक्रमण से उसका तेज म्लान हो गया था, दर्प-हत हो गया था, पर वह हार मानने को तैयार नहीं थी। वह कुचली हुई वन्य वीरुध की भाँति म्लान होकर भी सजीव थी, फिर से पनप उठने के लिए सचेष्ट थी, निरुपाय होकर वह जिधर सुविधा पाती उसी तरफ आश्रय को लपक पड़ती। इसी समय दक्षिणी आसमान से कई तेज-पुञ्ज ज्वलन्त

ज्योतियाँ उत्तर की ओर बड़े वेग से दौड़ती हुई नजर आयीं। दिशाएँ तिमिराच्छन्न थीं, आसमान धूल से भरा हुआ था, धरित्री रक्त से तर थी। दक्षिण आकाश से आयी हुई इन ज्योतियों ने कोई बाधा नहीं मानी, किसी की परवा न की। वे बढ़ती ही गयीं। अचानक प्रकाश की किरण में स्पष्ट मालूम हुआ, इस कुचली हुई संस्कृति-लता को एक सहारा मिला है। यह सहारा था वैष्णव धर्म—भक्ति मतवाद। इसने इस लता को केवल आश्रय नही दिया, रस की धारासार वर्षा से उसे लहलहा दिया; पत्र और पुष्प की नूतन समृद्धि से देखने वालों की आँखें निहाल हो गयी! मैं जिस देवता के मन्दिर के सामने बैठा हुआ हूँ, वह उसी आश्चर्यजनक भक्ति मतवाद का उपाश्रय है। कौन कहता है यह पराजित देवता का प्रतीक है? वह आश्रयों का खजाना, सच्चा तिलस्म और अचिन्तनीय जादू की लकड़ी है।

मैंने साफ देखा: मुर्शिदाबाद की सड़कों पर मुसलमान वंशोद्भूत हरिदास भावावेश में हरिनाम संकीर्त्तन करते जा रहे हैं, और जल्लाद उन पर अविश्रान्त भाव से दण्ड प्रहार करते जा रहे है; चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं पड़ती, शान्त और मोहक तेज बढ़ता ही जा रहा है—मैं स्तब्ध, निर्वाक्। मैंने देखा: मेवाड़ के राजवंश की शोभा और शान मीराबाई दर-विगलित नयन; कम्पमान कण्ठस्वर और खिन्न गात्र से गोपाल लाल के विरह में नृत्य कर रही हैं, राज परिचारक ने जहर का प्याला दिया है, वे अजब लापरवाही से पी रही हैं—मैं रुद्ध-श्वास, हत-चेष्ट! मैंने और भी देखा: बन्दा वीर दिल्ली नगरी में बन्दी होकर बैठा है; आँखों के सामने सात सौ प्राण-प्रिय साथी देखते-देखते तलवार के घाट उतार दिये जाते हैं। जल्लाद बन्दा की गोद में उसका कोमल बच्चा डालता है, आज्ञा मिलती है, इसे अपने हाथों मार डालो। बन्दा कृपाण उठाता है। पिता-पुत्र साथ ही बोल उठते हैं—"वाह गुरुजी!" और कृपाण उस कोमल कलेवर को कदली-स्तम्भ की भाँति विदीर्ण कर देता है—मैं विचलित, अश्रु-अन्ध, विक्षुब्ध!! कहाँ से आयी इतनी शक्ति? ठाकुर तुम धन्य हो!

मेरे सामने अचानक प्रकाश का एक महासमुद्र दिखायी दिया, देखते-देखते उस प्रकाश ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया—एक त्रिभंगी मूर्त्ति, माथे पर मोर-पंख, हाथ में वंशी और लकुट, कटि में पीताम्बर, वक्षःस्थल पर वैजयन्ती की माला, कन्धे पर कामरी। जी में आया कि मध्ययुग के कवि के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर चिल्ला उठूँ—

'या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।'

ठीक इसी समय मेरी चिन्ता को आहत करते हुए कुछ भले आदमी सभास्थल पर उपस्थित हुए। समय बहुत निकल गया था। जितने लोग आ गये थे, उन्हीं के साथ प्रस्तावित विषय को बिना भूमिका के ही उठा दिया गया। ठाकुरजी के राग-भोग की व्यवस्था के साथ-ही-साथ सारे गाँव के छोटे-मोटे झगड़ों का विचार आरम्भ हुआ। बहस द्रौपदी का चीर हो उठा। महज सात रुपये माहवार का प्रबन्ध करना था, मैंने उत्तेजना में अपनी शक्ति के बाहर कुछ अधिक भार उठाने का संकल्प करके वृद्ध सज्जनों के चित्त को शायद कुछ

आघात पहुँचाया, पर कुछ फल नहीं हुआ। मैं फिर एक बार उद्विग्न हो उठा। कुछ समझ में नहीं आया कि मध्ययुग की महिमा-शालिनी संस्कृति का उपाश्रय यह महावीर्य देवता आज इतना उपेक्षित क्यों है! मेरे सामने कुछ ही क्षण पहले जो तेज:पुञ्ज दिखायी पड़ा था, वह धीरे-धीरे धूमिल होने लगा। मैंने समझा, यह भी मेरा बौद्धिक विकार था, वास्तव में न मध्ययुग की कोई संस्कृति ही महत्त्वपूर्ण थी और न उसका आश्रय यह देवता ही। अचानक तर्क और बहस के भीतर से एक प्रकाश दिखायी पड़ा। मैं चौंक उठा, उत्तेजित हो गया और क्षण-भर के लिए हतबुद्धि हो रहा।

बात यह हुई। सभा में एक पण्डितजी बैठे थे। उन्हें हम लोगों ने बड़े आग्रह से बुलाया था। मनोनीत सभापति की अनुपस्थिति में उन्हीं के सभापति होने की बात थी। इन पण्डिजी को अपनी शास्त्र-निष्ठा पर अभिमान था। साधारण मनुष्य के लिए यह समझना बड़ा कठिन है कि कब पण्डित का शास्त्र उसकी बुद्धि को दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्र को। सभा में उन्होंने मुझे और मित्र को चुनौती-सी देते हुए कहा कि ठाकुरजी की पूजा अब तक शास्त्र-निषिद्ध विधि से होती रही है। जो साधु इस समय पूजा कर रहे हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं और शास्त्र के मत से ठाकुर उसी जाति के होकर पूजा ग्रहण करते हैं, जिस जाति में पुजारी का जन्म हुआ रहता है। इसके पूर्ववर्त्ती पुजारी भी अब्राह्मण थे। पिछले तीन वर्षों से ठाकुरजी अब्राह्मण होकर ही पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीलिए यह अत्यन्त स्पष्ट बात है कि ब्राह्मण ऐसे ठाकुरजी को पूज्य नहीं समझ सकता! ब्राह्मण धर्म का यथोचित पालन कठिन व्रत है।

पण्डितजी ने अपने वक्तव्य को और भी स्पष्ट करते हुए बताया कि अनधिकारी की पूजा से गाँव का अमंगल हो रहा है। इसलिए पहले अब्राह्मण साधु को स्थानच्युत किया जाय, फिर राग-भोग की व्यवस्था बाद में होती रहेगी। मेरा नाम पुकारकर उन्होंने इस विषय पर मेरी स्पष्ट सम्मति चाही।

क्षण-भर मेरे सामने मध्ययुग की भूयोभूय: पद-ध्वस्त भारतीय संस्कृति की जादू-भरी मूर्त्ति खेल गयी। वह ब्राह्मण-संस्कृति नहीं थी, श्रमण संस्कृति नहीं थी, राजन्य संस्कृति नहीं थी, शास्त्रीय संस्कृति भी नहीं थी। वह सम्पूर्ण हिन्दू जाति की एककेन्द्रा संस्कृति थी—अपने-आप में परिपूर्ण, तेजोमयी, जीवन्त! ये वृद्ध सज्जन, जिनके ललाटपट्ट पर रामानुजी सम्प्रदाय का विशाल तिलक अंकित है, जो पण्डितजी की हाँ-में-हाँ मिला रहे हैं, आज भूल ही गये हैं—और शायद उन्हें कभी जानने का मौका ही नहीं मिला—कि रामानुज के दादागुरुओं की परम्परा के अनेक आलवार भक्त अब्राह्मण ही नहीं थे, शूद्र से भी निम्न कुल में अवतरित हुए थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने शूद्र शिष्य कृष्णदास अधिकारी (अष्टछाप के एक कवि) को श्रीनाथजी के मन्दिर का प्रधान अधिकारी बनाया था। महाप्रभु के गोलोकवास के अनन्तर एक बार उन्होंने महाप्रभु के एकमात्र गुरु श्री गोकुलनाथ गोसाईं को भी मन्दिर में जाना निषिद्ध कर दिया था। पण्डितजी अब्राह्मणीभूत ठाकुर का चरणोदक लेने में हिचकते हैं, गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्राण-प्रतिष्ठाता महाप्रभु

चैतन्यदेव ने मुसलमान भक्त हरिदास का चरणोदक हठ के साथ छककर पिया था। लेकिन मारिए गोली इन ऐतिहासिक घटनाओं को। गोप-कुल में पालित और क्षत्रियवंश में अवतीर्ण अखण्डानन्द विग्रह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र क्या ऋषि-मुनियों से भरी सभा में पूजा के पात्र नहीं समझे गये?

मैं सोच में पड़ गया। इस सभा में जो अब्राह्मण कुलोत्पन्न सज्जन बैठे हैं, उनके पास क्या आत्मसम्मान नाम की कोई चीज नहीं है? वे इस कथन का विरोध क्यों नहीं करते? और इस सभा में जो ब्राह्मण सज्जन बैठे हैं, उनमें क्या लोक-कल्याण की भावना का कुछ भी अवशेष नहीं रह गया? वही क्यों नहीं इस बात का प्रतिवाद कर रहे हैं? क्यों पहले दलवाले भीरु हैं, कायर हैं, डरपोक हैं और क्यों दूसरे दलवाले हठी हैं, अभिमानी हैं, रूढ़ि-प्रिय हैं? मैंने उत्तेजित भाव से कहा—'जो ठाकुर जाति-विशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य-चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान् हीन और पतितों के भगवान् हैं, जाति और वर्ण से परे के भगवान् हैं, धर्म और सम्प्रदाय के ऊपर के भगवान् हैं, वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं, और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण-चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं।' मेरी बात अभी समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि मेरे मित्र ने मुझे बीच ही में रोका। उन्होंने ओरेटर की भाषा और भाष्यकार के लहजे में कहा कि वे मेरी बात से सोलह आने सहमत हैं, पर ऐसी बात ऐसे समय में नहीं कहनी चाहिए। वे शंकित हो रहे थे कि उनकी परिश्रमपूर्वक बुलायी हुई सभा कहीं व्यर्थता में पर्यवसित न हो जाय। मेरी उत्तेजना उनकी आशंका का प्रधान कारण थी। लेकिन मुझे इसलाम की बात याद आ रही थी—डरपोक ही समझौता किया करते हैं।

मेरे मित्र मुझे समझा रहे थे (क्योंकि भरी सभा में नासमझी का कार्य एकमात्र मैंने ही किया था!) और मैं अपनी सहज-सहचरी कल्पना के साथ ऊपर उठने लगा। मैं सभा-स्थल से कुछ ऊपर उठा, ठाकुरजी के मन्दिर के ऊपर गया, उनकी निष्कम्प ध्वजा से भी ऊपर उठा—उठते-उठते मैं आविल आकाश का प्रत्येक स्तर लाँघ गया। अब मैं ऐसी जगह आ गया जहाँ से दुनिया का कोई रहस्य देखने से बाकी नहीं था। मैंने दक्षिण की ओर देखा। सूची-भेद्य निबिड़ अन्धकार के साथ चिता की आग जूझ रही थी, उसी प्रकाश में कलकल-निनादिनी नदी चाँदी की लकीर-सी चमक रही थी, सामने दूर तक फैले हुए सैकत-राशि पर केवल कंकाल और नरमुण्ड बिखरे पड़े थे। चिता के पास एक काली-सी मूर्त्ति बैठी थी, शायद वह चिता का अधिकारी चाण्डाल था। इसी समय मेरे आश्चर्य को शतगुण वृद्धि करते हुए एक चारु-दर्शन महात्मा चिता की ओर भागते हुए दिखायी दिये! घने, काले, घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त थे, पर शोभा उनसे चुई-सी पड़ती थी; विशाल भालपट्ट पर रामानुजी तिलक विराजमान था, पवित्रता उसमें अपनी छाया देख रही थी; कटिदेश और स्कन्धदेश पीत पट्टाम्बर से विभूषित थे; मुख-मण्डल के चारों ओर प्रकाश की किरणें छिटक रही थीं; मनोहर मुख देखकर आँखे धन्य हो जाती थीं। महात्मा अचानक

आकर चाण्डाल के चरणों से लिपट गये। चाण्डाल चिल्ला उठा—"प्रभो, पामर को और भी अपराधी बना रहे हो? क्या करते हो देवता? छोड़ो, छोड़ो, मैं पापी, चाण्डाल, मुझे रौरव नरक में न फेंको!"

महात्मा ने कसकर चरण पकड़ लिया। उसी अवस्था में बोले—"शान्त हो जाओ। मेरे नारायण, नष्ट हो जाने दो मेरी सारी वासना, मेरा सारा अभिमान इस पावन तीर्थ में। मैं उस मठ का प्रधान हूँ। तीन दिन पहले तुम भगवान् का दर्शन करने गये थे, मेरे शिष्यों ने तुम्हारा अपमान किया था। तब से भगवान् रूठ गये हैं। तीन दिन से मैं भूखा-प्यासा हूँ। मेरे ठाकुर ने मेरा अन्न खाना छोड़ दिया है। आज वे आये थे, चेहरा उनका उदास था, आँखे उनकी डबडबायी हुई थीं, उत्तरीय उनका अश्रुसिक्त था, गला उनका भरा हुआ। मैंने रोते हुए पूछा—'मेरे ठाकुर, मेरे प्यारे, तुम्हें हो क्या गया है?' भर्रायी हुई आवाज में उन्होंने गरजकर कहा—'रामानन्द, मैंने तुम्हारा मठ छोड़ दिया है, तुम्हारे शिष्यों ने मेरे भक्त का अपमान किया है। मैं अब यहाँ नहीं आ सकता।' भीत-भाव से मैंने पूछा—'तुम अब कहाँ रहोगे मेरे ठाकुर?' भगवान् ने जलद गम्भीर स्वर में कहा—'जहाँ मेरे भक्त रहते हैं। वह देखो, उस श्मशान में वही मेरा भक्त चिता जला रहा है। तुम उनकी कृपा के बिना मुझे नहीं पा सकते।' यह कहकर वे चले गये और मैं दौड़ा तुम्हारे पास आया। मेरा शास्त्राभिमान आज धूल में लोट रहा है, मेरा वर्ण और आश्रम का अभिमान आज ध्वस्त हो गया है; तुम भक्त हो, तुम नारायण के रूप हो, मेरे ऊपर कृपा करो। आज्ञा दो, क्या सेवा कर सकता हूँ।"

चाण्डाल भक्त ने गद्गद कण्ठ से कहा—"प्रभो, मैं क्या कृपा कर सकता हूँ। भगवान् अगर मुझे कुछ इसी प्रकार की अनधिकार चर्चा करने को कहते हैं, तो उठो प्रभो, मैं आज्ञा देता हूँ, स्नान करके मुझे अपना शिष्य बना लो, वह रास्ता दिखा दो जिससे मैं अभिमान का समुद्र तैर सकूँ, भक्ति की नौका पा सकूँ।" रामानन्द ने आज्ञापालन किया, और दिग्वधुओं ने मौन शंख-नाद। मैं चिन्तातुर हो उठा। यह इतिहास है या मनोवाञ्छित स्वप्न?

मैंने देखा, मेरे गाँव के मन्दिर से भी ठाकुरजी निकले जा रहे हैं। उनकी मुखाकृति गम्भीर है। जिस चटुल-चपल आनन्दमयी मूर्त्ति की कल्पना मैंने आज तक की है, उसका कोई चिह्न उस चेहरे पर नहीं है। सारा आसमान अणु-परमाणुओं के साथ 'धिक-धिक' कर उठा। मेरे सिवा यह धिक्कार-वाक्य और कोई दूसरा नहीं सुन सका। लज्जा और ग्लानि से मेरा चेहरा काला पड़ गया। मेरे ग्रेजुएट मित्र मुझे अब भी समझा रहें हैं। मैं शायद कुछ समझने योग्य हो चला था। अचानक उनके मुँह से एक युक्ति की अवतारणा होते देख मेरी भावुकता को एक और दचका लगा। उन्होंने मेरे वाक्य का यह अर्थ लगाया—जो मेरा लक्ष्य न होते हुए भी सही था— कि मैं मुसलमानों को भी पूजन का अधिकारी मान रहा हूँ।

हाय हिन्दू और हाय मुसलमान! आठ सौ वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद, एक-दूसरे से इतने अधिक नजदीक रहकर भी, तुमने अपनी एक संस्कृति न बनायी! अभी कुछ ही

क्षण पहले सभा में बैठे हुए एक क्षत्रिय अध्यापक को अभिवादन करते हुए एक वैश्य शिष्य ने कहा था—'सलाम, बाबू साहब' शास्त्र-निष्ठ पण्ठितजी ने डपटकर बताया—'यह मुसलमानी कायदा है।' क्षत्रिय अध्यापक ने क्षमा याचना-सी करते हुए कहा—'हम लोगों में बुरा रिवाज चल गया है।' लेकिन यह और इसी तरह के दो-चार और बुरे रिवाज ही तो हिन्दू और मुसलमान नामक दो विशाल शिलापटों को जोड़ने के गोंद थे। आज वह भी टूटते जा रहे हैं, वर्जन-परायण हिन्दू-भाव सबको धो-पोंछ डालना चाहता है, अभिमानी मुसलमान-भाव कुछ भी ग्रहण करना नहीं चाहता।

मुझे इस समय ऐसा मालूम हुआ कि पश्चिमी महासमुद्र की भयंकर लहरों से दो-चार श्वेतांग नाविक जूझते हुए चले आ रहे हैं। सामने और पीछे जहाँ तक दृष्टि जाती है, केवल पानी-ही-पानी दिख रहा है, केवल लहरों का फूत्कार, केवल लोल समुद्र का गर्जन! उनके चेहरे शान्त हैं, मस्तिष्क धीर। इस शान्ति को देखकर मैं डर गया। यह वह शान्ति थी जिसके पेट में सारी दुनिया का तूफान था। मैं साँस रोककर उनके असीम साहस और धैर्य को देखता रह गया—निर्वाक्, निश्चेष्ट, निस्तब्ध!! अन्त में ये नाविक भारतीय किनारे पर पहुँचे। फिर टिड्डियों के दल की तरह शत-शत नौकाएँ महासमुद्र के लोल वक्ष पर छोड़ दी गयीं। भारतीय अन्तरीप इस कोने से उस कोने तक इन विदेशियों से भर गया। मौका देखकर इन्होंने दरार पर आघात किया, पहले से ही अलग हिन्दू और मुसलमान दूर से दूरतर होते गये। मौका देखकर विदेशी राजा बन बैठे और अपूर्व अध्यवसाय और लगन के साथ दोनों जातियों को समझने की कोशिश करते गये। जितना ही उन्होंने समझा, उतना ही भेद-भाव को उत्तेजित किया। आज हम प्रत्येक बात को हिन्दू दृष्टिकोण और मुसलमान दृष्टिकोण से देखने के आदी हो गये हैं, मानो ऐसा कोई दृष्टिकोण ही नहीं है जिससे हिन्दू और मुसलमान साथ ही देख सकें। मैंने फिर एक बार दीर्घश्वास के साथ मन-ही-मन कहा—हांय रे हिन्दू और हाय रे मुसलमान!!

अन्त में, काफी बहस-मुबाहिसे के बाद, सभा दूसरे दिन के लिए स्थगित हुई। मैं अब भी कल्पना के मनोगामी रथ पर आसीन था। मेरे बगल में एक तरुण पण्डित मित्र बैठे थे। वे दूसरे गाँव से आये थे। एकमात्र वे ही शुरू से आखिर तक निर्लिप्त भाव से बैठे रहे। उन्होंने सब सुना, पर कहीं भी विचलित नहीं हुए, कहीं भी चंचल नहीं हुए। मुझे झकझोरते हुए उन्होंने कहा—'चलिए आज की सभा समाप्त हुई। आप बहुत उत्तेजित हो जाते हैं।' मैंने कहा—'ठीक है।'

पर क्या ठीक था? मेरे गाँव की यह ठाकुरबारी कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसकी अव्यवस्था के कारण विराट् हिन्दू समाज अणुमात्र भी लज्जा अनुभव करे। और यह सभा? यह तो ततोधिक नगण्य है। फिर क्या कारण है कि इस मामूली-सी सभा ने मेरे मन में भारतीय महामानव-समुद्र के प्रत्येक तरंग-विस्फूर्जन की स्मृति उत्पन्न करा दी? शायद यह हिन्दू समाज की जीवनी शक्ति का सबूत हो, यह इस विराट् महामानव-समुद्र की कोई तरंग स्वतन्त्र नहीं है। इस मामूली-सी ठाकुरबारी की समस्या भी सारे विश्व की समस्या के

साथ जटिल भाव से उलझी हुई है, उसको विच्छिन्न भाव से सुलझाया नहीं जा सकता। सभाएँ होती रहेंगी, राग-भोग की व्यवस्था होगी भी, नहीं भी होगी, पर समस्या ज्यों-की-त्यों रहेगी अगर उसे विराट् पैमाने पर नहीं सोचा गया। सारे गाँव के मनुष्य सारे जगत् के साथ विचित्र भाव से जड़ित हैं, उन पर विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार की गुरुतर समस्याओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव पड़ रहा है। वे ठाकुरजी से उदासीन होने को बाध्य हैं। सामने जो मस्जिद जगमगायी हुई है, वह भी समान रूप से उपेक्षित है। आज से दस वर्ष पहले वह इतनी जगमगायी नहीं थी। उसकी आज की जगमगाहट उसी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव का परिणाम है जिसके कारण यह ठाकुरबारी उपेक्षित है। एक ही किरण दो रंग के शीशों से प्रतिफलित होकर दो तरह की दिख रही है। यही ठीक था। मै उठ पड़ा। उठते-उठते मैंने फिर सोचा—लेकिन क्या कारण है कि एक ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्या के दबाव से वह मुसलमानी मस्जिद जगमगा उठी है और यह हिन्दू मन्दिर उपेक्षित है? क्या मुसलमानी धर्म ज्यादा सजीव है? शायद नहीं। क्या हिन्दू धर्म ज्यादा मुर्दा है? शायद! वे हिन्दू धर्म के उत्कर्ष से भीत हैं। दूसरी तरफ हिन्दू धर्म जरूरत से ज्यादा आत्म-विश्वासी हो गया है। मुसलमान अपनी बची-खुची सारी शक्ति समेटकर मुसलमानियत का प्रदर्शन कर रहे हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चलने की। वह आगन्तुक उत्साह भी समाप्त हो जायगा और यह अत्यधिक आत्मबोध-मूलक शैथिल्य तो समाप्त हो ही चला है। जब दोनों समाप्त हो जायेंगे तभी रास्ता सूझेगा, तभी शान्ति आयेगी। तथास्तु।

11

बरसो भी

आज जुलाई की दसवीं तारीख है। आषाढ़ समाप्त होने में भी सिर्फ पाँच दिन रह गये हैं। पानी नहीं बरसा। पिछले सप्ताह पुरवैया हवा का जोर रहा, पानी से भरे बादल सिर के ऊपर से उड़ते रहे। दिन-भर उड़ते थे, लगता था अब बरसेगा, यह मेघ व्यर्थ नहीं जायेंगे, पर शाम होते ही आसमान साफ (सवेरा होते ही फिर बादलों की दौड़—मगर पानी नहीं बरसा।) पुराने कवि की एक पंक्ति मन में मँडराती रही—"गुनगाहक यार बलाहक जू परे नाहक मौन की बातनि में!" मगर गुनगाहक यार बलाहक के कानों तक गुहार पहुँची नहीं। नहीं बरसे तो नहीं बरसे! तृषित चातक की भाँति आसमान में पानी का भण्डार बहता देखता रहा। पानी उड़ रहा है। कमी नहीं है, पर मिल नहीं रहा है!

धरती और आसमान में कुछ साँठ-गाँठ है। शायद हमेशा ही रहा है। यहाँ भी लोग कहते हैं कि अन्न की कमी नहीं है, पर मिल नहीं रहा है। राशन की दुकानें खाली हैं।

चोरबाजार भरे हैं—सब है, सिर पर से उड़ रहा है—केवल मिलता नहीं है। अखबारों में पढ़ता हूँ, अच्छी व्यवस्था होने जा रही है; आँखें देखती हैं, हो नहीं पा रही है। आसमान के ग्रह और धरती के ग्रह एक ही समान चुप्पी साधे हैं। क्या होने वाला है? अकाल की डरावनी छाया बादलों की मादक छाया के समान ही 'घनघोर' है! लोगों का कहना है कि किसान 'त्राहि-त्राहि' कर रहे हैं। कौन त्राण करेगा!

बादल उड़ रहे हैं, गरज नहीं रहे। कहते हैं, जो गरजता है वह बरसता नहीं, पर न गरजने वाले ही कहाँ बरस रहे हैं। पुराने अनुभव सब बेकार ही लगते हैं! तालचंचु पक्षियों के उड़ान को कभी व्यर्थ नहीं जाते देखा। लेकिन इन दिनों वह भी बेकार ही साबित हो रहा है। कम्बख्त रोज उड़ते हैं, घण्टों वायु की उल्टी दिशा में तैरते हैं, पर बेकार। जमाना सचमुच बदल रहा है। जैसे गरजने वाले, वैसे न गरजने वाले। धरती पर कुछ पार्टियाँ गरज रही हैं, बरस नहीं पायेंगी; कुछ नहीं गरज रही हैं, वे भी नहीं बरसेंगी। जनता के लिए दोनों बराबर हैं। जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ!

मगर इन नीर-भरी बदलियों को हो क्या गया है? कहाँ जा रही हैं ये? मुँह तो दिल्ली की ओर है।

सब दिल्ली की ओर भाग रहे हैं। बादल भी, आदमी भी। स्वराज के पच्चीस वर्ष बाद यही भाग्य में लिखा था! सोचता था, यहाँ न सही, दिल्ली में बरस जाय तो क्या बुरा है! पर सुना है, वहाँ हालत और बुरी है। जितने कजरारे मेघ वहाँ गये, बिना बरसे ही सूख गये। अब क्या होगा? यहाँ भम्भ लोट रहा है, वहाँ खेह उड़ रही है।

जानकार लोगों से पूछने पर दो कारण मालूम हुए। एक ने बताया कि 'प्रैशर' कम हो गया है। प्रैशर माने दबाव। सारी दुनिया की तो नहीं मालूम, पर इस देश में प्रैशर बिना कोई काम नहीं होता। आसमान में जो घट रहा है, वह धरती पर काफी अरसे से घट रहा है। आसमान क्या धरती से नयी हिकमतें सीख रहा है, या वहाँ की भी यही चाल है? मुझे सन्देह नहीं कि इस विशेषज्ञ की बात ही ठीक है। पर आसमान पर कैसे प्रैशर डाला जाय! एक दूसरे विशेषज्ञ ने बताया कि मानसून का बैल्ट अफ्रीका महाद्वीप की ओर खिसक गया है। उसका दबाव अब केवल दक्षिण भारत तक ही आकर खत्म हो जाता है। बड़ी बुरी खबर है। बैल्ट ही खिसक गया! तो क्या अब ईरान पर ही बरसेगा? कौन जाने!

इधर की आशा क्या छोड़ ही देना चाहिए?

विशेषज्ञ की बात का सम्मान होना चाहिए, पर मन नहीं मानता कि इन्द्र-देवता इस देश से इतने नाराज हो गये हैं कि घुड़दौड़ का मैदान ही दूसरी ओर उठा ले जायेंगे। इतना नाराज तो नहीं होना चाहिए। क्या बिगाड़ा है हमने उनका! उनकी हजार आँखों में से एक पर भी हमने चोट नहीं पहुँचायी है। अगर किसी ने पहुँचायी होगी तो कोई परमाणु बम वाला देश ही होगा। हमने तो भुजा उठाकर घोषणा की है कि हम परमाणु बम नहीं बनायेंगे। कुछ भी क्यों न हो जाये!

अवर्षण इस देश में कोई नयी बात नहीं है। बारह-बारह वर्ष तक के लगातार अवर्षण

के दस्तावेज मिले हैं। एक बार तो महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ कुछ ऐसे नाराज हुए कि सारे बादलों को मृगछाला बनाकर उसी पर बैठ गये और फिर समाधि लगा ली। बड़ी मुश्किल से उन्हें मनाया जा सका। योगी का क्रोध विकट होता है।

इस बार ऐसा नहीं हुआ है। यह निश्चित है, क्योंकि बादल मृगछाला नहीं बने हैं, साफ दिखाई दे रहे हैं। मगर कुछ-न-कुछ कहीं हुआ अवश्य है। योगी तो इस देश में कम नहीं है और कई तो सचमुच ही नाराज हैं। स्वतन्त्र भारत के योगी अब धन्धा भी तो करने लगे हैं।

इधर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद योग-विद्या का प्रचार काफी गति से बढ़ा है। ऐसे भी योगेश्वर हुए हैं जो अभिमन्यु की भाँति कुक्षि से ही योग-विद्या के ज्ञाता होकर पैदा हुए हैं! इन लोगों के नाराज होने से समुद्र तक के सूख जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी है। मेघ तो मेघ हैं—धूम ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघ!

लोगों के मन में आशंका है कि किसी धार्मिक या आध्यात्मिक अपराध से ही यह अवर्षण का प्रकोप है। लोग यज्ञ-याग करने लगे हैं। आदिम कहे जाने योग्य टोटके भी शुरू हो गये हैं। सुना है, अनावृत-शरीरा महिलाओं ने हल चलाये हैं, गोबर के पुतले दीवारों पर लगाये गये हैं—पानी बरसना चाहिए, चाहे जैसे भी हो!

आसमान में नीर-भरे बादल दौड़ रहे हैं। दिङ्मण्डल पानी से भर गया है, पर पानी बरस नहीं रहा है, ठीक उसी तरह जैसे अनाज-भरे वैगन दौड़ रहे हैं, एक भी दाना मिल नहीं रहा है।

बरसो आसमान के बादलो, बरसो! दया नहीं कर सकते तो अकल से तो काम लो—'बिगरी जो बयार तो दैहैं उड़ाय सबै कन रेत पहारन में।' सो, समझ से काम लो!

मगर समझ है कहाँ? न धरती पर है, न आसमान पर है। जिन लोगों के पास समझ है, वह सबकुछ बटोरकर उस पर कुण्डली मारकर बैठ रहने में उसका उपयोग कर रहे हैं। पर कब तक वे ऐसा कर सकेंगे? स्वाधीन भारत की बुभुक्षु जनता ज्यादा देर यह सब नहीं बर्दाश्त करेगी। इसीलिए कहता हूँ—आसमान वालो, बरसो, जमके बरसो; और धरती वालो, प्रेम से बरसो, मोह-माया छोड़कर बरसो। जमाना बुरा आ गया है। बरसो भी!

12

क्या निराश हुआ जाय?

मेरा मन कभी-कभी बैठ जाता है। समाचारपत्रों में ठगी, डकैती, चोरी, तस्करी और भ्रष्टाचार के समाचार भरे रहते हैं। आरोप-प्रत्यारोप का कुछ ऐसा वातावरण बन गया है कि लगता है, देश में कोई ईमानदार आदमी रह ही नहीं गया है। हर व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखा

जा रहा है। जो जितने ही ऊँचे पद पर है, उसमें उतने ही अधिक दोष दिखाये जाते हैं। एक बहुत बड़े आदमी ने मुझसे एक बार कहा था कि इस समय सुखी वही है जो कुछ नहीं करता, जो भी कुछ करेगा उसमें लोग दोष खोजने लगेंगे। उसके सारे गुण भुला दिये जायेंगे और दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाने लगेगा। दोष किसमें नहीं होते? यही कारण है कि हर आदमी दोषी अधिक दिख रहा है, गुणी कम या बिल्कुल नहीं। स्थिति अगर ऐसी है तो निश्चय ही चिन्ता का विषय है।

यही क्या भारतवर्ष है जिसका सपना तिलक और गांधी ने देखा था? विवेकानन्द और रामतीर्थ का आध्यात्मिक ऊँचाई वाला भारतवर्ष कहाँ है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मदनमोहन मालवीय का महान् संस्कृति-सभ्यता वाला भारतवर्ष किस अतीत के गह्वर में डूब गया? आर्य और द्रविड़, हिन्दू और मुसलमान, यूरोपीय और भारतीय आदर्शों की मिलनभूमि 'महामानव समुद्र' क्या सूख ही गया? मेरा मन कहता है, ऐसा हो नहीं सकता। हमारे महान् मनीषियों के सपने का भारत है और रहेगा। ऊपर की सतह पर जितना भी कोलाहल और उथल-पुथल क्यों न दिखायी दे रही हो, नीचे शान्त अचंचल गाम्भीर्य में अब भी भारत महान् है, अनुकरणीय है। यह सही है कि इन दिनों कुछ ऐसा माहौल बना है कि ईमानदारी से मेहनत करके जीविका चलाने वाले निरीह और भोले भाले श्रमजीवी पिस रहे हैं, झूठ और फरेब का रोजगार करने वाले फल-फूल रहे हैं। ईमानदारी को मूर्खता का पर्याय समझा जाने लगा है, सच्चाई केवल भीरु और बेबस लोगों के हिस्से पड़ी है। ऐसी स्थिति में जीवन के महान् मूल्यों के बारे में लोगों की आस्था ही हिलने लगी है।

बात नयी नहीं है। पर इसकी बीभत्सता शायद पहले कभी इतनी विकराल होकर नहीं प्रकट हुई। आज से चार सौ साल पहले बाबा तुलसीदास ने कुछ ऐसा ही माहौल देखा था। वे व्याकुल भाव से कह गये हैं:

सीदत साधु, साधुता सोचति,
खल बिलसत, हुलसति खलई है।

परन्तु आधुनिक साधनों और सुविधाओं के विकास के साथ-साथ धन-संग्रह की प्रवृत्ति को जैसा बढ़ावा इस समय मिला है, वैसा उन दिनों नहीं था। 'खलई का हुलास' बेहिसाब बढ़ गया है और उसी अनुपात में, बल्कि कुछ अधिक मात्रा में ही, 'साधुता का सोच' भी बढ़ा है। तुलसीदास ने महान् जीवन-मूल्यों में आस्था नहीं छोड़ी थी। लगता है, उनके समकालीन अधिकांश लोगों ने भी नहीं छोड़ी थी, पर आज? आज भी छोड़ने की जरूरत नहीं है।

ऊपर-ऊपर जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह बहुत हाल की मनुष्य-निर्मित नीतियों की त्रुटियों की देन है। सदा मनुष्य-बुद्धि नयी परिस्थितियों का सामना करने के लिए नये सामाजिक विधि-निषेधों को बनाती है, उनके ठीक साबित न होने पर उन्हें बदलता है। ऊहापोह, ग्रहण-त्याग, संशोधन-परिवर्धन का सिलसिला चलता ही रहता है। उथलपुथल भी हाती है, कई बार दुर्व्यवस्था के कारण निरीह व्यक्तियों का कष्ट भी बढ़ता है, बहुधा

सुविधाभोगी वर्ग की स्थिति में परिवर्त्तन के कारण व्यक्ति-विशेष बुरी तरह ध्वंस हो जाता है। नियम-कानून सबके लिए बनाये जाते हैं, पर मनुष्य-समाज बहुत जटिल प्रक्रियाओं से होकर, गुजरकर और भी जटिल होता है, सबके लिए कभी भी एक ही नियम सुखकर नहीं होते। मनुष्य की वृद्धि से निर्मित व्यवस्था हमेशा त्रुटि-युक्त होती है। सामयिक कायदे-कानून कभी युग-युग से परीक्षित आदर्शों से टकराते भी हैं, इससे ऊपरी सतह आलोड़ित भी होता है। पहले भी हुआ है, आगे भी होगा। उसे देखकर हताश हो जाना ठीक नहीं है।

भारतवर्ष ने कभी-भी भौतिक वस्तुओं के संग्रह को महत्त्व नहीं दिया। उसकी दृष्टि में मनुष्य के भीतर जो महान् आन्तरिक तत्त्व स्थिर भाव से बैठा हुआ है, वही चरम और परम है। लोभ-मोह, काम-क्रोध आदि विकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं, पर उनको प्रधान शक्ति मान लेना और अपने मन और बुद्धि को उन्हीं के इशारे पर छोड़ देना बहुत निकृष्ट आचरण है। भारतवर्ष ने कभी भी इनको महत्त्व नहीं दिया, इन्हें सदा संयम के बन्धन से बाँधकर रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु, भूख की उपेक्षा नहीं की जा सकती, बीमार के लिए दवा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, गुमराह को ठीक रास्ते पर ले आने के उपायों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हुआ यह है कि इस देश के कोटि-कोटि दरिद्रजनों की हीन अवस्था को दूर करने के लिए ऐसे अनेक कायदे-कानून बनाये गये हैं जो कृषि, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और स्वास्थ्य की स्थिति को अधिक उन्नत और सुचारु बनाने के लक्ष्य से प्रेरित है। अपने-आपमें यह लक्ष्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु जिन लोगों को इन कार्यों में लगना है उनका मन सब समय पवित्र नहीं होता। प्रायः ही वे लक्ष्य को भूल जाते हैं और अपनी ही सुख-सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देने लगते हैं। व्यक्तिचित्त सब समय आदर्शों द्वारा चालित नहीं होता। जितने बड़े पैमाने पर इन क्षेत्रों में मनुष्य की उन्नति के विधान बनाये गये, उतनी ही मात्रा में लोभ-मोह जैसे विकार भी विस्तृत होते गये। लक्ष्य की बात भूल गयी। आदर्शों को मजाक का विषय बनाया गया और संयम को दकियानूसी मान लिया गया। परिणाम जो होना था वह हो रहा है। यह कुछ थोड़े-से लोगों के बढ़ते हुए लोभ का नतीजा है, किन्तु इससे भारतवर्ष के पुराने आदर्श और भी अधिक स्पष्ट रूप से महान् और उपयोगी दिखायी देने लगे हैं।

भारतवर्ष सदा कानून को धर्म के रूप में देखता आ रहा है। आज एकाएक कानून और धर्म में अन्तर कर दिया गया है। धर्म को धोखा नहीं दिया जा सकता, कानून को दिया जा सकता है। यही कारण है कि जो लोग धर्म-भीरु रूढ़िग्रस्त हैं, वे कानून की त्रुटियों से लाभ उठाने में संकोच नहीं करते।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण खोजे जा सकते हैं कि समाज के उपरले स्तर में चाहे जो भी हो रहा हो, भीतर-भीतर भारतवर्ष अब भी यह अनुभव कर रहा है कि धर्म कानून से बड़ी चीज है। अब भी सेवा, ईमानदारी, सच्चाई और आध्यात्मिकता के मूल्य बने हुए हैं। वे दब अवश्य गये हैं, लेकिन नष्ट नहीं हुए। मनुष्य आज भी मनुष्य से प्रेम करता है,

महिलाओं का सम्मान करता है, झूठ और चोरी को गलत समझता है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने को पाप समझता है और कठिनाई में पड़े हुए बेबस लोगों की सहायता करने में अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। हर आदमी अपने व्यक्तिगत जीवन में इस बात का अनुभव करता है। समाचारपत्रों में जो भ्रष्टाचार के प्रति इतना आक्रोश है, वह यही साबित करता है कि हम ऐसी चीजों को गलत समझते हैं और समाज से उन तत्त्वों की प्रतिष्ठा कम करना चाहते हैं जो गलत तरीके से धन या मान संग्रह करते हैं। दोषों का पर्दाफाश करना बुरी बात नहीं है। बुराई यह मालूम होती है कि किसी के आचरण के गलत पक्ष को उद्घाटित करते समय उसमें रस लिया जाता है और दोषोद्घाटन को एकमात्र कर्त्तव्य ही मान लिया जाता है। बुराई में रस लेना बुरी बात है, अच्छाई को उतना ही रस लेकर उजागर न करना और भी बुरी बात है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी घटती हैं जिन्हें उजागर करने से लोकचित्त में अच्छाई के प्रति अच्छी भावना जागती है।

मैं एक बार रेलवे स्टेशन पर टिकिट लेने गया। गलती से मैंने दस रुपये के बदले सौ रुपये का नोट दे दिया। टिकिट बाबू ने उस समय वह रुपया रख लिया। मुझे पता भी नहीं चला कि मैंने कितनी बड़ी गलती की है। मैं जल्दी-जल्दी गाड़ी में आकर बैठ गया। थोड़ी देर में टिकिट बाबू उन दिनों के सैकेंड क्लास के डब्बे में हर आदमी का चेहरा पहचानता हुआ उपस्थित हुआ। उसने मुझे पहचान लिया और बड़ी विनम्रता के साथ मेरे हाथ में नब्बे रुपये रख दिये और कहा, "यह बहुत बड़ी गलती हो गयी थी। आपने भी नहीं देखा, मैंने भी नहीं देखा।" उसके चेहरे पर विशेष सन्तोष की गरिमा थी। मैं चकित रह गया। कैसे कहूँ कि दुनिया से सच्चाई और ईमानदारी लुप्त हो गयी है? ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं, परन्तु यही एक घटना ठगी और वंचना की अनेक घटनाओं से अधिक शक्तिशाली है।

एक बार मैं बस में यात्रा कर रहा था। मेरे साथ मेरी पत्नी और तीन बच्चे भी थे। बस में कुछ खराबी थी, रुक-रुककर चलती थी। गन्तव्य से कोई पाँच मील पहले ही एक निर्जन सुनसान स्थान में बस ने जवाब दे दिया। रात के कोई दस बजे होंगे। बस के यात्री घबड़ा गये। कण्डक्टर ऊपर गया और एक साइकिल लेकर चलता बना। लोगों को सन्देह हो गया कि हमको धोखा दिया जा रहा है। बस में बैठे लोगों ने तरह-तरह की बातें शुरू कर दीं। किसी ने कहा, "यहाँ डकैती होती है। दो दिन पहले इसी तरह एक बस को लूट लिया गया।" परिवार सहित अकेला मैं ही था। बच्चे 'पानी', 'पानी' चिल्ला रहे थे। पानी का कही ठिकाना नहीं था। ऊपर से आदमियों में डर समा गया था। कुछ नौजवान लोगों ने ड्राइवर को पकड़कर मारने-पीटने का हिसाब बनाया। ड्राइवर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लोगों ने उसे पकड़ लिया। वह बड़े कातर ढंग से मेरी ओर देखने लगा और बोला, "हम लोग बस का कोई उपाय कर रहे हैं, बचाइए, ये लोग मारेंगे।" डर तो मेरे मन में भी था, पर उसकी कातर मुद्रा देखकर मैंने और यात्रियों को समझाया कि मारना ठीक नहीं है। परन्तु यात्री इतना घबड़ा गये थे कि वे मेरी बात सुनने को तैयार नहीं हुए। वे लोग

कहने लगे, "इसकी बातों में मत आइए, धोखा दे रहा है। कण्डक्टर को पहले ही डाकुओं के यहाँ भेज दिया है।" मैं भी भयभीत था, पर ड्राइवर को किसी तरह मारपीट से बचाया। डेढ़-दो घण्टे बीत गये। मेरे बच्चे खाना और पानी के लिए व्याकुल थे। मैं और मेरी पत्नी की हालत बुरी थी। लोगों ने ड्राइवर को मारा तो नहीं, पर उसे बस से उतारकर एक जगह घेरकर रखा। कोई दुर्घटना होती है तो पहले ड्राइवर को समाप्त कर देना उन्हें उचित जान पड़ा। मेरे गिड़गिड़ाने का कोई विशेष असर नहीं पड़ा। इसी समय क्या देखता हूँ कि एक खाली बस चली आ रही है और उस पर हमारी बस का कण्डक्टर भी बैठा हुआ है। उसने आते ही कहा, "अड्डे से नयी बस लाया हूँ, इस पर बैठिए। यह बस चलने लायक नहीं है।" फिर मेरे पास एक लोटे में पानी और थोड़ा दूध लेकर आया और बोला, "पण्डितजी! बच्चों का रोना मुझसे नहीं देखा गया। वहीं दूध मिल गया, थोड़ा लेता आया।" यात्रियों को फिर जान आयी। सबों ने उसे धन्यवाद दिया। ड्राइवर से माफी माँगी और बारह बजे से पहले ही सब लोग बस अड्डे पर पहुँच गये। कैसे कहूँ कि मनुष्यता एकदम समाप्त हो गयी। कैसे कहूँ कि लोगों में दया-माया रह ही नहीं गयी। जीवन में न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता।

ठगा भी गया हूँ, धोखा भी खाया है, परन्तु बहुत कम स्थलों पर विश्वासघात नाम की चीज मिली है। केवल उन्हीं बातों का हिसाब रखूँ जिनमें धोखा खाया है तो जीवन कष्टकर हो जायेगा। परन्तु ऐसी घटनाएँ बहुत कम नहीं हैं जहाँ लोगों ने अकारण सहायता की है, निराश मन को ढाढ़स दिया है और हिम्मत बँधायी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक प्रार्थनागीत में भगवान् से प्रार्थना की थी कि 'संसार में केवल नुकसान ही उठाना पड़े, धोखा खाना ही पड़े तो ऐसे अवसरों पर भी हे प्रभो! ऐसी शक्ति दो कि मैं तुम्हारे ऊपर सन्देह न करूँ!'

संसारेते लभिले क्षति, पाइले सुधु वंचना
तोमाके जेन ना करि संशय।

मनुष्य की बनायी विधियाँ गलत नतीजे तक पहुँच रही हैं तो उन्हें बदलना होगा। वस्तुतः आये दिन इन्हें बदला ही जा रहा है। लेकिन अब भी आशा की ज्योति बुझी नहीं है। महान् भारतवर्ष को पाने की सम्भावना बनी हुई है, बनी रहेगी।

मेरे मन! निराश होने की जरूरत नहीं है।

13

भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!

मेरे एक मित्र हैं, बड़े विद्वान्, स्पष्टवादी और नीतिमान। वह इस राज्य के बहुत प्रतिष्ठित

नागरिक हैं। उनसे मिलने से सदा नयी स्फूर्ति मिलती है। यद्यपि वह अवस्था में मुझसे छोटे हैं, तथापि मुझे सदा सम्मान देते हैं। इस देश में यह एक अच्छी बात है कि सब प्रकार से हीन होकर भी यदि कोई उम्र में बड़ा हो, तो थोड़ा-सा आदर पा ही जाता है। मैं भी पा जाता हूँ। मेरे इस मित्र की शिकायत थी कि देश की दुर्दशा देखते हुए भी मैं कुछ कह नहीं रहा हूँ, अर्थात् इस दुर्दशा के लिए जो लोग जिम्मेदार हैं उनकी भर्त्सना नहीं कर रहा हूँ। यह एक भयंकर अपराध है। कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपमान देखकर भी जिस प्रकार मौन धारण किया था, वैसे ही कुछ मैं और मेरे जैसे कुछ अन्य साहित्यकार चुप्पी साधे हैं। भविष्य इसे उसी तरह क्षमा नहीं करेगा जिस प्रकार भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। मैं थोड़ी देर तक अभिभूत होकर सुनता रहा और मन में पापबोध का भी अहसास हुआ। सोचता रहा, कुछ करना चाहिए, नहीं तो भविष्य क्षमा नहीं करेगा। वर्तमान ही कौन क्षमा कर रहा है? काफी देर तक मैं परेशान रहा—चुप रहना ठीक नहीं है, कम्बख्त भविष्य कभी माफ नहीं करेगा। उसकी सीमा भी तो कोई नहीं है। पाँच हजार वर्ष बीत गये और अब तक बिचारे भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। भविष्य विकट असहिष्णु है।

काफी देर बाद भ्रम दूर हुआ। मैं भीष्म नहीं हूँ। अगर हिन्दी में लिखने वाला कोई भीष्म हो जाता हो, तो भी मुझे कौन पूछता है? बहुत ज्ञानी-गुणी भरे पड़े हैं। मुझसे अवस्था में, ज्ञान में, प्रतिभा में बहुत आगे। मुझे कोई डर नहीं है। 'भविष्य' नामक महादुरन्त अज्ञात मुझे किसी गिनती में लेने वाला नहीं है। डरना हो तो वे ही लोग डरें, जिनकी गिनती हो सकती है। तुम क्यों घबराते हो, मनसाराम, तुम तो न तीन में, न तेरह में! बड़ी राहत मिली इस यथार्थबोध से।

मगर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि थोड़ी देर के लिए ही सही, भीष्म मुझ पर छाये रहे। प्राचीनकाल में भीष्म-जैसा धर्मज्ञ और ज्ञानी खोजना कठिन है। महाभारत का शान्तिपर्व इसका गवाह है। कोई समस्या तो भले आदमी ने छोड़ी नहीं। प्राचीन काल के ज्ञानियों में भीष्म मुझे सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, अपने अगाध इतिहासबोध के कारण। युधिष्ठिर के हर प्रश्न के उत्तर में वह प्रायः यह कहकर शुरू करते हैं—'अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्'। (यहाँ भी लोग इस पुराने इतिहास की नजीर देते हैं)।

किस प्रकार पुराने इतिहास से वह वर्त्तमान समस्या के सही स्वरूप का उद्घाटन करते हैं और उसका विकासक्रम समझा देते हैं, वह चकित कर देता है। हर प्रश्न के तह में जाने की उनकी पद्धति आधुनिक युग में भी उपयोगी है। ज्ञान और धर्म के सच्चे रूप को पहचानने में उन्हें कमाल की सफलता मिली थी। यह कहना गलत होगा कि भीष्म के प्रति भारतवर्ष ने कृतज्ञता नहीं दिखायी। आज भी श्रद्धावान लोग भीष्माष्टमी को अपनी श्रद्धा उनके प्रति निवेदन करते ही हैं, परन्तु जिस समय मेरे मित्र अत्यन्त प्रभावशाली शैली में भीष्म को मेरे ऊपर आरोपित कर रहे थे, उस समय थोड़ी देर के लिए भीष्म का आवेश

सचमुच मेरे ऊपर आ गया था। प्रभावशाली भाषा में जादुई शक्ति होती है। उसी से कवि पाठक को अभिभूत करता है, वक्ता उसी के बल पर श्रोता पर छा जाता है। मैं भी कुछ आविष्ट हुआ। भीष्म की ही शैली में बोलने की प्रेरणा जाग्रत हुई थी....... अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातन'।

एक पुराना इतिहास मुझे भी स्मरण हो आया था।

वह इतिहास यह है। बात सन् 35 -36 की है। उन दिनों मैं शान्तिनिकेतन में था। एक दिन प्रात:भ्रमण के लिए निकला था। मैं साधारणत: प्रात:भ्रमण के लिए तभी निकलता हूँ, जब किसी ऐसे उत्साही घुमक्कड़ से, जो श्रद्धेय कोटि के होते हैं, प्रेरणा मिलती है। उन दिनों श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन की प्रेरणा से प्रात:भ्रमण के लिए निकलता था। सही बात तो यह है कि निकलते वह थे, मैं पीछे हो लेता था। तो उस दिन भी मैं उनके साथ ही निकला। भाग्य उस दिन प्रसन्न था। देखा, गुरुदेव धीरे-धीरे अपने बगीचे में टहल रहे थे। कुछ गम्भीर मुद्रा में थे। आचार्य सेन ने कहा, 'चलो प्रणाम कर लें।' वह आगे चले, मैं पीछे-पीछे। धीरे-धीरे दबे पाँव हम लोग उनके पास पहुँच गये। चरण छूकर प्रणाम निवेदन किया। उनका ध्यान भंग हुआ। देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने उस दिन मुझे सम्बोधित करके कहा—"तुमने कभी सोचा है कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया और श्रीकृष्ण को ही क्यों अवताररूप में सम्मान दिया गया?"

मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं था। क्या जवाब देता? मैं मन-ही-मन अपने सोचने की शक्ति की दरिद्रता पर लज्जित हो रहा था। आचार्य सेन ने रक्षा की। वह बोले—'हम लोग तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर आपसे ही सुनने की आशा रखते हैं।' गुरुदेव ने हँसते हुए कहा—'आपने तो कुछ सोचा ही होगा। मगर मैं इस पण्डित को ही छेड़ना चाहता था। अभी नौजवान है, नया खून है, मार खाने की अभी शक्ति है, मेरी पीठ तो जर्जर हो चुकी है।' कहकर गुरुदेव खूब प्रसन्न भाव से हँसे। मैंने विनीत भाव से कहा—'ऐसा प्रश्न तो मेरे मन में कभी उठा ही नहीं, परन्तु आप कहते हैं तो सोचूँगा। परन्तु क्या सोचूँ, यह बता दें।' गुरुदेव के शब्द याद नहीं हैं, पर उनके कथन की मेरे मन पर जो छाप रह गयी है, वह यह है कि शर-शैय्या पर पड़े भीष्म ने जब भयंकर नरसंहार देखा होगा, उनके जैसे ज्ञानी के मन में अपनी प्रतिज्ञा, उसके परवर्त्ती परिणाम आदि बातें क्या उठी नहीं होंगी? मैंने सोचना शुरू किया था। कई प्रतिभाशाली मित्रों से भी सोचने का कहा था, पर सोचता ही रह गया। जिन्होंने सोचने के लिए उकसाया था, वह चले गये। आज मेरे मित्र ने कहा कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया तो बात फिर उमड़कर नये रूप में मानसपटल पर हहरा उठी। लहरायी तो क्या होगी!

भीष्म शर-शय्या पर सोये उपयुक्त काल की प्रतीक्षा कर रहे थे—मरने के लिए। जैसे-तैसे, जब-तब, जहाँ-तहाँ मरना भी ठीक नहीं होता। उचित मुहूर्त्त में मरना चाहिए। साधारण मनुष्य मुहूर्त्त का विचार किये बिना ही मर जाते हैं। भीष्म ऐसे नहीं थे। उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त था। जब तक उत्तम मुहूर्त्त न आ जाये तब तक वह मृत्यु नहीं

चाहते थे। इसका फायदा उठाया युधिष्ठर ने। सारी शंकाएँ उनसे कह डालीं और उत्तर भी वसूल कर लिये। मेरे एक आदिगुरु ने शर-शय्या वाली कहानी सुनायी थी। उनके कहने का मतलब था कि भीष्म पितामह अनेक बाणों की नोक पर सोये हुए थे। उनका तकिया भी बाणों की नोक का ही बना था। मेरा बालक-मन बहुत व्याकुल हो गया था। वह हजार ब्रह्मचारी रहे हों, उन्हें बाणों की नोक तो चुभती ही होगी! बिचारे वृद्ध करवट भी नहीं बदल पाते होंगे। जब बदलते होंगे तब बाण बुरी तरह चुभ जाते होंगे। और उसी में युधिष्ठिर प्रश्नों की बौछार कर रहे होंगे। यद्यपि वह (युधिष्ठिर) तो दयालु थे, तथापि उस समय थोड़ी और दया दिखाते, तो क्या बिगड़ जाता? मैं जब उस दृश्य की कल्पना करता था, तब मुझे बड़ी पीड़ा होती थी, पर दूसरे बच्चे ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करते थे और प्रसन्न होते थे। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिए यह कोई कष्ट की बात ही नहीं थी। मैं भी उसकी महिमा तो समझता था, पर न जाने क्यों मेरा मन दु:खी हो उठता था। बाद में मेरे एक विद्वान बुजुर्ग ने बताया कि 'शर' सरकण्डे को कहते थे। उसी से बाण बनते थे, इसलिए 'शर' का अर्थ बाण हो गया। भीष्म वस्तुत: बाणों की नोक पर नहीं, सरकण्डों की चटाई पर लेटे थे! यह व्याख्या ठीक है या नहीं, पर मेरे बालक-मन को इससे बड़ी राहत मिली थी। सो, भीष्म शर-शय्या पर थे अर्थात् सरकण्डों की चटाई पर लेटे हुए थे। वैसे, जर्जर वृद्ध के लिए यह भी कम कठोर शय्या नहीं थी, पर चुभने वाली नहीं होगी। समर्थ पौत्रों ने उसे कुछ तो तरीके से बनवाया ही होगा। युधिष्ठिर ने अच्छा ही किया जो उनका मन बातचीत में उलझाये रखा, परन्तु जब युधिष्ठिर और अन्य लोग उन्हें विश्राम करने के लिए छोड़कर चले जाते होंगे, तब एकान्त में इस बूढ़े के मन में क्या चिन्ता रहती होगी? कुछ तो सोचते ही होंगे। श्रद्धालु लोग तो कहेंगे कि वह तुरन्त ब्राह्मी स्थिति में चले जाते होंगे। भगवान् श्रीकृष्ण ने तो कहा ही है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाने पर कोई मोह होता ही नहीं। पर जिन्हें श्रृद्धा का इतना सम्बल प्राप्त नहीं है, वे क्या करें? उन्हें लगता है कि भीष्म-जैसा ज्ञानी भी कुछ सोचता जरूर होगा।

गुरुदेव पूछते हैं कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया, मेरे यह मित्र कहते हैं कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया। क्या दोनों बातों का अर्थ एक ही है? शायद भीष्म को क्षमा नहीं किया गया, इसीलिए उन्हें अवतार नहीं माना गया। कुछ बात है अवश्य। भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है, तो उसका कुछ अर्थ होता है। किसी ने नहीं कहा कि भीष्म को अमुक-अमुक कारणों से अवतार नहीं माना गया और श्रीकृष्ण को अमुक-अमुक कारणों से अवतार माना गया। एक को विष्णु का अवतार नहीं कहा गया, क्योंकि वह नहीं थे, एक को मान लिया गया क्योंकि वस्तुत: थे। हमारे मनीषियों ने इसी ढंग से सोचा है।

दिनकरजी महामना और उदार कवि थे। उनसे क्षमा मिल जाने की आशा से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भीष्म अपने बम-भोलानाथ गुरु परशुराम से अधिक सन्तुलित, विचारवान और ज्ञानी थे। पुराने रिकार्ड कुछ ऐसा सोचने को मजबूर करते हैं। फिर भी

परशुराम को दस अवतारों में गिन लिया गया और बिचारे भीष्म को ऐसा कोई गौरव नहीं दिया गया। क्या कारण हो सकता है?

एकान्त में भीष्म सरकण्डों की चटाई पर लेटे-लेटे क्या अपने बारे में सोचते नहीं होंगे? मेरा मन कहता है कि जरूर सोचते होंगे। भीष्म ने कभी बचपन में पिता की गलत आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भीषण प्रतिज्ञा की थी—वह आजीवन विवाह नहीं करेंगे। अर्थात् इस सम्भावना को ही नष्ट कर देंगे कि उनके पुत्र होगा और वह या उसकी सन्तान कुरुवंश के सिंहासन पर दावा करेगी। प्रतिज्ञा सचमुच भीषण थी। कहते हैं कि इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही वह देवदत्त से 'भीष्म' बने। यद्यपि चित्रवीर्य और विचित्रवीर्य तक तो कौरव रक्त रह गया था तथापि बाद में वास्तविक कौरव रक्त समाप्त हो गया, केवल कानूनी कौरव वंश चलता रहा! जीवन के अन्तिम दिनों में इतिहास-मर्मज्ञ भीष्म को यह बात क्या खली नहीं होगी?

भीष्म को अगर यह बात नहीं खली तो और भी बुरा हुआ। परशुराम चाहे ज्ञान-विज्ञान की जानकारी का बोझ ढोने में भीष्म के समकक्ष न रहे हों, पर सीधी बात को सीधे समझने में निश्चय ही वह उनसे बहुत आगे थे। वह भी ब्रह्मचारी थे—बालब्रह्मचारी। पर भीष्म जब अपने निर्वीर्य भाइयों के लिए कन्याहरण कर लाये और एक कन्या को अविवाहित रहने को बाध्य किया, तब उन्होंने भीष्म के इस अशोभन कार्य को क्षमा नहीं किया। समझाने-बुझाने तक ही नहीं रुके, लड़ाई भी की। पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के शब्दों से चिपटे ही रहे। वह भविष्य नहीं देख सके, वह लोककल्याण को नहीं समझ सके। फलतः अपहृता अपमानित कन्या जल मरी!

नारदजी भी ब्रह्मचारी थे। उन्होंने सत्य के बारे में शब्दों पर चिपटने को नहीं, सबके हित या कल्याण को अधिक जरूरी समझा था—सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्!

भीष्म ने दूसरे पक्ष की उपेक्षा की थी। वह 'सत्यस्य वचनं' को 'हित' से अधिक महत्त्व दे गये। श्रीकृष्ण ने ठीक इससे उलटा आचरण किया। प्रतिज्ञा में 'सत्यस्य वचनम्' की अपेक्षा 'हितम्' को अधिक महत्त्व दिया। क्या भारतीय सामूहिक चित्त ने भी उन्हें पूर्णावतार मानकर इसी पक्ष को अपना मौन समर्थन दिया है? एक बार गलत-सही जो कह दिया, उसी से चिपट जाना 'भीषण' हो सकता है, हितकर नहीं! भीष्म ने 'भीषण' को ही चुना था।

भीष्म और द्रोण भी, द्रौपदी का अपमान देखकर भी क्यों चुप रह गये? द्रोण गरीब अध्यापक थे, बाल-बच्चे वाले थे। गरीब ऐसे कि गाय भी नहीं पाल सकते थे। बिचारी ब्राह्मणी को चावल का पानी देकर दूध माँगने वाले बच्चे को फुसलाना पड़ा था। उसी अवस्था में फिर लौट जाने का साहस कम लोगों में होता है, पर भीष्म तो पितामह थे। उन्हें बाल-बच्चों की फिक्र भी नहीं थी, भीष्म को क्या परवा थी। एक कल्पना यह की जा सकती है कि महाभारत की कहानी जिस रूप में प्राप्त है, वह उसका बाद का परिवर्त्तित रूप है। शायद पूरी कहानी जैसी थी, वैसी नहीं मिली है। लेकिन आजकल के लोगों को

आप जो चाहें कह लें, पुराने इतिहासकार इतना गिरे हुए नहीं होंगे कि पूरा इतिहास ही उलट दें। सो, इस कल्पना से भी भीष्म की चुप्पी समझ में नहीं आती। इतना सच जान पड़ता है कि भीष्म में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय में कहीं कोई कमजोरी थी। वह उचित अवसर पर उचित निर्णय नहीं ले पाते थे। यद्यपि वह जानते बहुत थे, तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे। उन्हें अवतार न मानना ठीक ही हुआ। आजकल भी ऐसे विद्वान् मिल जायेंगे, जो जानते बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं। करने वाला इतिहासनिर्माता होता है, सिर्फ सोचते रहने वाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।

14

एक कुत्ता और एक मैना

आज से कई वर्ष पहले गुरुदेव कें मन में आया कि शांतिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जायें। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए या पता नहीं क्यों, तय पाया कि वे श्रीनिकेतन के पुराने तिमंजिले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। वह सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे। उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियाँ थीं और वृद्ध और क्षीणवपु रवींद्रनाथ के लिए उस पर चढ़ सकना असंभव था। फिर भी बड़ी कठिनाई से वहाँ ले जाया जा सका!

उन दिनों छुट्टियाँ थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गए थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहाँ विशेषरूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूँ, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था, प्रायः वह यह कहकर मुस्करा देते थे कि दर्शनार्थी हैं क्या?' शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बँगला में बात करता था, जो वस्तुतः हिंदी-मुहावरें का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था, 'एक भद्र लोक आपनार दर्शनेर जन्य ऐसेछेन।' यह बात हिंदी में जितनी प्रचलित है, उतनी बंगला में नहीं। इसलिए गुरुदेव जरा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में पहुँच जाता था तो वह हँसकर पूछते थे—"दर्शनार्थी लेकर आये हो क्या?" यहाँ यह दुःख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही ऐसे प्रगल्भ होते थे कि समय-असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनवस्था की एकदम परवाह नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भीत-भीत से रहते थे। अस्तु,

मैं मय बाल-बच्चों के एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुँचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था!

गुरुदेव यहाँ बड़े आनंद में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शांतिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गये तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यानस्तिमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराये, बच्चों से जरा छेड़-छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया उनके पैरों के पास खड़े होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। वह आँखें मूँदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा, 'देखा तुमने, यह आ गये। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ, आश्चर्य है! और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखाई दे रही है।''

हम लोग उस कुत्ते के आनंद को देखने लगे। किसी ने इसे राह नहीं दिखाई थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेहदाता यहाँ से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया! इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने 'आरोग्य' में इस भाव की एक कविता लिखी थी—''प्रतिदिन प्रात:काल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता। इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनन्द का प्रवाह बह उठता है। इस वाक्य-हीन प्राणिलोक में सिर्फ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको भेदकर संपूर्ण मनुष्य को देख सका है; उस आनंद को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहैतिक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य लोक में राह दिखा सकती है। जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूँ, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव-स्वरूप में कौन-सा अमूल्य आविष्कार किया है; इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती और मुझे इस दृष्टि से मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है!'' इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव सत्य को देखा है, जो मनुष्य, मनुष्य के भीतर भी नहीं देखा पाता।

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तितल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूँदकर अपरिसीम आनंद, वह 'मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन' मूर्त्तिमान हो जाता है। उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गई है। एक आश्चर्य की बात इस प्रसंग में और उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव का चिताभस्म कलकत्ते से आश्रम में लाया गया, उस समय भी न जाने किस सहज बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शांत-गंभीर भाव से उत्तरायण तक गया! आचार्य क्षितिमोहन सेन सबके आगे थे। उन्होंने मुझे बताया है कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा!

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों शांति-निकेतन में मैं नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना धृष्ट नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिए निकला करते थे। मैं एक दिन उनके साथ हो गया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा, "अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गये? उनकी आवाज सुनाई ही नहीं देती।" न तो मेरे साथी उन अध्यापक महाशय को यह खबर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों से आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रखा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं। एक लेखक ने कौओं की आधुनिक साहित्यिकों से उपमा दी है, क्योंकि इनका मोटो है—'मिस्चीफ फार मिस्चीफ्स सेक' (शरारत के लिए ही शरारत)। तो क्या कौओं का प्रवास भी किसी शरारत के उद्देश्य से ही था? प्राय: एक सप्ताह के बाद बहुत कौए दिखाई दिये।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लंगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा, "देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है।" गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुण भाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुभव था कि मैना करुणभाव दिखाने वाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकंपा ही दिखाया करती है। तीन-चार वर्ष से मैं एक नये मकान में रहने लगा हूँ। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ रखा है। यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक खतरे का समाधान होगा। सो एक-एक मैना दंपति नियमित भाव से प्रतिवर्ष यहाँ गृहस्थी जमाया करते हैं। तिनके और चिथड़ों का अंबार लगा देते हैं। भले मानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते। हैरान होकर हम सूराखों में ईंटें भर देते हैं; परंतु वे खाली बची जगह का भी उपयोग कर लेते हैं। पति-पत्नी जब कोई एक तिनका लेकर सूराख में रहते हैं तो उनके भाव देखने लायक होते हैं। पत्नीदेवी का तो क्या कहना! एक तिनका ले आई तो फिर एक पैर पर खड़ी होकर जरा पंखों को फटकार दिया, चोंच को अपने-ही पैरों से साफ कर लिया और नाना प्रकार की मधुर और विजयोद्घोषी वाणी में गाना शुरू कर दिया! हम लोगों की तो उन्हें कोई परवाह ही नहीं रहती। अचानक इसी समय अगर पतिदेवता भी कोई कागज का या गोबर का टुकड़ा लेकर उपस्थित हुए, तब तो क्या कहना। दोनों के नाच-गान और आनंद-नृत्य से सारा घर मुखरित हो उठता है। इसके बाद ही पत्नीदेवी जरा हम लोगों की ओर मुखातिब होकर लापरवाही भरी अदा से कुछ बोल देती हैं। पतिदेवता भी मानो मुस्कराकर हमारी ओर देखते, कुछ रिमार्क करते और मुँह फेर लेते

हैं। पक्षियों की भाषा तो मैं नहीं जानता; पर मेरा विश्वास है कि उनमें कुछ इस तरह की बातें हो जाया करती हैं:

पत्नी—ये लोग यहाँ कैसे आ गये, जी?

पति—ऊँह, बेचारे आ गये हैं, तो रह जाने दो। क्या कर लेंगे?

पत्नी—लेकिन फिर भी इनको इतना खयाल होना चाहिए कि यह हमारा प्राईवेट घर है।

पति—आदमी जो हैं, इतनी अकल कहाँ?

पत्नी—जाने भी दो।

पति—और क्या?

सो इस प्रकार की मैना कभी करुण हो सकती है, यह मेरा विश्वास ही नहीं था। गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है। शायद वह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था। या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिडाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में ईषत् चोट खाकर एकांत विहार कर रही है, हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है? शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है:

"उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूँ। क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है? पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में। जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो। इसके बाद उसे रोज सबेरे देखता हूँ—संगीहीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है। चढ़ आती है बरामदे में। नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे जरा भी नहीं डरती। क्यों है ऐसी दशा इसकी? समाज के किस दंड पर उसे निर्वासन मिला है? दल के किस अविचार पर उसने मान किया है। कुछ ही दूर पर और मैनाएँ बक-झक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं; उड़ती फिरती हैं शिरीष वृक्ष की शाखाओं पर। इस बिचारी को ऐसा कुछ भी शोक नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूँ। सबेरे की धूप में मानो सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बिल्कुल नहीं जान पड़ती। इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखे भी तो नहीं दिखतीं।" इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करुण मूर्त्ति अत्यंत साफ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें इस बेचारी के मर्मस्थल तक पहुँच गईं, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गई। सायंकाल कवि ने उसे नहीं देखा। जब वह 'अकेले जाया करती है उस डाल के कोने में; जब झींगुर अंधकार में झनकारता रहता है, जब हवा में बाँस के पत्ते झरझराते रहते हैं, पेड़ों की फाँक से पुकारा करता है नींद

तोड़ने वाला संध्यातारा! कितना करुण है, उसका गायब हो जाना!'

15

व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी

बात काफी पुरानी हो गयी है। सम्बद्ध लोग भी प्राय: संसार छोड़ चुके हैं। जो हैं वे बुरा नहीं मानेंगे, इसीलिए आज कह देने की इच्छा हुई है।

लगभग सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष पहले की बात है। मैं शान्तिनिकेतन से काशी आया था। उन दिनों महामना मालवीयजी 'सनातन धर्म' नामक पत्र निकालते थे। मेरे सहयोगी मित्र पं० (अब डॉक्टर) भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' उसका सम्पादन करते थे। काशी आया तो माधवजी से मिले बिना कैसे जा सकता था! काफी अरसे के बाद हम दोनों मिले थे। देर तक बातें करते रहे, हँसते-हँसाते रहे। चलते-चलते माधवजी ने कहा, "कुछ 'सनातन धर्म' के लिए लिखा कीजिए।" मैंने स्वीकार कर लिया। शान्तिनिकेतन आया तो माधवजी की आज्ञा का पालन करना आवश्यक समझा, परन्तु लिखूँ क्या? 'सनातन धर्म' के योग्य क्या लिख सकता हूँ? धर्म का उपदेश देना मेरा काम नहीं है, यह मैं यमझ गया था। ज्योतिष का नशा तब.भी नहीं उतरा था। सोचा पंचांगों की ही चर्चा कर दो। सनातन धर्म में तो इनका काफी महत्त्व है। लेख लिख दिया। क्या शीर्षक था—यह याद नहीं है। पर प्रसंग-क्रम से विश्व-पंचांग की चर्चा आ गयी। यह पंचांग हिन्दू विश्वविद्यालय से निकलता था। सम्पादकों में पण्डित मदनमोहन मालवीयजी का भी नाम था। मेरे महादेव-तुल्य औढरदानी गुरु पं० रामयत्न ओझाजी का भी नाम था। किसी जमाने में मैं स्वयं उसमें कुछ काम भी कर चुका था। मुझे उसकी गणना-पद्धति, जिसे गुरुजी 'दृश्यादृश्यवाद' कहा करते थे, पसन्द नहीं थी। गुरुजी से कई बार उलझने की धृष्ठता कर चुका था। गुरुजी भोजपुरी में कहते थे, "अबहीं समुझत नइखे, बाद में समुझि जइबे," और हँस देते। उनके स्नेहसिक्त वाक्यों से मैं निरुत्तर हो जाता। इस बार गुरुजी के मत की, उनका नाम लिये बिना आलोचना कर दी। लेख लिखा पूरे उत्साह से, किन्तु भेजने का समय आया तो मन काँप उठा। गुरुजी पढ़ेंगे तो क्या कहेंगे! फिर सोचा, गुरुजी तो जानते ही हैं, बहुत होगा डाँट देंगे। उनसे क्षमा मांग लेना तो बड़ा ही आसान काम था। मगर सत्य बात कह देनी चाहिए। उन दिनों नग्न जोश था। समझता था, जो मुझे सत्य मालूम होता है, वही सारी दुनिया का सत्य है। गुरुजी की बात बहुत बाद में समझ में आयी। उन्होंने कहा था, 'बाद में समुझि जइबे', अब थोड़ा-थोड़ा समझने लगा हूँ। लेख लिख गया था, उसे छपना भी चाहिए। सो, भेजने का निश्चय किया। लेखक का नाम था—व्योमकेश शास्त्री। पता-ठिकाना कुछ नहीं। यह

माधवजी को भी चकमा देने का प्रयास था। लेख भेज दिया। छप गया। मैं प्रसन्न हुआ कि किसी को पता नहीं लगा, उधर विधाता कुटिल हँसी हँस रहे थे—'छिपते हो? छिपना क्या इतना आसान है!'

बाद की घटना बड़ी मजेदार है। एक दिन शान्तिनिकेतन का डाकिया एक बड़ा-सा बण्डल (रजिस्टर्ड पार्सल) लिये व्योमकेश शास्त्री का पता पूछते मेरे पास पहुँचा। मैंने कहा, "यहीं रहते हैं, दे जाओ।" पार्सल ले लिया। व्योमकेश शास्त्री तो प्रथम बार 'सनातन धर्म' में अवतरित हुए थे, उनके नाम यह भारी पोथा कहाँ से आ गया? मैंने उत्सुकतापूर्वक बण्डल खोला। एक बड़ा पोथा था—इन्दौर की पंचांग समिति की रिपोर्ट, जो बहुत ही उपयोगी पुस्तक थी। आज भी मैं उस पुस्तक को उपयोग में लाता हूँ। कुछ और छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ थीं और साथ में प्रसिद्ध पंचांग-निर्माता पं० दीनानाथ शास्त्री चुलेट का पत्र था। वे इन्दौर के महाराजा के ज्योतिषी थे और वहीं से पंचांग प्रकाशित करते थे। एक बार मैं उनसे मिल भी चुका था। उन्होंने 'व्योमकेश शास्त्री' को सम्बोधित करके लिखा था कि 'सनातन धर्म' में प्रकाशित लेख से वे बहुत प्रभावित हुए हैं। उसमें जो मत प्रकाशित हुआ है, वह लगभग ज्यों-का-त्यों उनका भी मत है। इन्दौर में एक अखिल भारतीय ज्योतिष-सम्मेलन का आयोजन किया गया है। पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने सभापतिपद स्वीकार कर लिया है। पंचांग समिति ने देश के सभी पंचांग निर्माताओं को निमन्त्रित किया है। उद्देश्य है सारे भारत में एक ही पद्धति का पंचांग निकालने वाला मार्ग खोजना। ग्यारह विद्वानों की एक निर्णायक समिति बनायी गयी है, उसमें बंगाल के प्रतिनिधि व्योमकेश शास्त्री को रखा गया है। पं० दीनानाथ शास्त्री ने बड़े आग्रह से लिखा था कि आप अवश्य पधारें।

मैं हैरान! मालवीयजी महाराज सभापति होंगे, पंचांग-निर्माताओं में अपने-अपने पक्ष की स्थापना के लिए निमन्त्रित विद्वानों में गुरुजी भी रहेंगे और यह अपदार्थ 'व्योमकेश शास्त्री' निर्णायक समिति में फैसला सुनाने के लिए विराजमान रहेगा। ऐसी अनहोनी भी कभी हुई है! जरूर माधवजी ने भण्डाफोड़ किया है। मगर बाद में माधवजी से मालूम हुआ कि वे भी नहीं पहचान सके थे कि व्योमकेश शास्त्री और हजारीप्रसाद द्विवेदी एक ही हैं। बुकपोस्ट पर शान्तिनिकेतन के डाक-घर का ठप्पा देखकर उन्होंने दीनानाथ शास्त्री को बता दिया था कि यह कोई शान्तिनिकेतन का महापण्डित है! मैं सोच में पड़ गया। मालवीयजी भी जान जायेंगे, गुरुजी भी जान जायेंगे कि उन्हीं के पत्र में उन्हीं का लड़का उन्हीं की आलोचना कर रहा है। हाय, धरती फटती क्यों नहीं! मुझे बड़ी ग्लानि हुई। पं० दीनानाथ शास्त्रीजी को सच्ची बात लिख दी—"मैं बंगाल का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। मैं व्योमकेश शास्त्री नहीं हूँ, ठूँठ हजारीप्रसाद हूँ। मुझे वहाँ न बुलाइए। निर्णायक कोई वृद्ध विद्वान् हो तो शोभा देगा। मैं कैसे निर्णायक बन सकता हूँ!" पं० दीनानाथ शास्त्री ने मेरा नाम जाना तो और भी प्रसन्न हुए। बोले, "तुम्हें मैं नहीं छोड़ूँगा। आना ही पड़ेगा। सत्य कहने से डरते हो? कैसे नौजवान हो?" हाय राम! नौजवान होना दोष ही है।

पूरा दिन उधेड़-बुन में बीता। यह कैसे अस्वीकार करूँ कि सत्य कहने में नौजवान को नहीं डरना चाहिए! उन दिनों सारे देश में उथल-पुथल थी। नौजवान की स्तुति में उन दिनों जितना लिखा गया, उतना कदाचित् कभी नहीं लिखा गया था। वे सिर पर कफन बाँधकर चलते हैं, वे हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर झूल जाते हैं, उनके रक्त से धरती पवित्र होती है, और जाने क्या-क्या। सो, मैंने शास्त्रीजी को लिखा—"अवश्य आऊँगा। सत्य कहने में क्या डर है!" शास्त्रीजी प्रसन्न हुए। इधर नाड़ी सूखने की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी। निर्णायक समिति में व्योमकेश शास्त्री के स्थान पर हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम छपा। मान का भूखा चित्त चंचल हुआ। चलो, देखा जायेगा।

जैसे-जैसे सम्मेलन के दिन निकट आते गये, धुकधुकी बढ़ती गयी। गुरुजी क्या कहेंगे, मालवीयजी क्या सोचेंगे?

इन्दौर जाने के दिन से दो दिन पूर्व मेरी बेचैनी बढ़ गयी। नौ बजे दिन को मैं बहुत व्याकुल हुआ। एकाएक बात सूझ गयी। क्यों न गुरुदेव से सलाह ली जाय! तुरन्त चल पड़ा। एकदम उनके द्वार पर ही पहुँचकर रुका। संयोग की बात कि वे उस समय 'उत्तरायण' के बरामदे में अकेले चुपचाप बैठे थे। मुझे देखते ही स्नेह-सिक्त स्वर में बोले, "एशो" अर्थात् आओ। मैं इतनी जल्दी उनसे मिलने की आशा लेकर नहीं आया था। प्रणाम करके एक ओर बैठ गया। गुरुदेव ने मेरी ओर देखा, अत्यन्त वत्सल भाव से। फिर बोले, "कुछ चिन्तित जान पड़ते हो। क्या बात है?" अब सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं रहा। सारी बात ज्यों-की-त्यों सुना दी। अपनी दुविधा और संकोच की बात कही और अपनी पुस्तकी बंगला भाषा में उपसंहार करते हुए कहा, "मूर्खता से धर्म-संकट पैदा कर लिया है, अब आपकी सलाह माँगने आया हूँ। जाऊँ या न जाऊँ! जाने को कह चुका हूँ।" गुरुदेव ने क्षणभर मेरी आँखों में चुपचाप देखा। भगवान् जाने उन्होंने क्या पढ़ा उनमें। फिर सहज भाव से कहा, " न जाओ। तुममें सत्य के प्रति जितनी आस्था है, उससे कहीं अधिक भय और संकोच है। भय और संकोच तुम्हें सत्य का पक्ष नहीं लेने देंगे।" मैं सिहर उठा। हाथ जोड़कर चुपचाप उनकी ओर ताकता रहा। वे कुछ देर मौन रहे, फिर बोले, "सत्य बड़ा महसूल चाहता है। तुमने अपना नाम छिपाया, वहीं से तुम गलत रास्ते पर चल पड़े। देखो, जब किसी की प्रतिकूल आलोचना करनी हो तो नाम मत छिपाया करो। नाम छिपाना पहली कमजोरी है। फिर वह और कमजोरियों को खींचती जाती है। नाम छिपाना भी सत्य को छिपाना ही है।"

मुझे लगा कि गुरुदेव ने मेरे अन्तर तक वेध दिया है। मैंने जल्दी-जल्दी उठने का उपक्रम किया और उनकी ओर ताके बिना ही कहा, "तो फिर यही आज्ञा है?" उत्तर मिला, "हाँ।" मैं उठने लगा तो जरा जोर से बोले, "बैठो।" बैठना पड़ा। फिर उन्होंने पंचांगों के बारे में मैंने क्या लिखा है, यह पूछा और देर तक उस सम्बन्ध में बात करते रहे। मुझे लगा कि वे अब मेरे घाव पर अमृत लेपने का प्रयास कर रहे हैं। बड़े ही कोमल हृदय के थे। बोले, "मुझे प्रसन्नता है कि तुम ठीक ढंग से सोच रहे हो। पर डरा न करो।

जो ठीक समझो, खुलके कहो। मालूम हो कि तुमने गलती की, तो तुरन्त सुधार लो। सत्य अपना पूरा दाम चाहता है।''

गुरुदेव के यहाँ से लौटकर मैंने तार दे दिया, ''नहीं आ सकूँगा। क्षमा करें।''

बात खत्म हो गयी। मन का एक बोझ उतरा। दूसरा अभी बाकी था। गुरुजी तो जान ही गये होंगे, क्या सोचते होंगे! सोचा, क्षमा माँग लूँ। मजमून बनाया, काटा, फिर लिखा। पत्र ठीक बन नहीं पा रहा था। इतने में गुरुजी का पत्र आ गया। लिखा था, ''तू इन्दौर क्यों नहीं गया? मैं तो उस दिन अपनी विद्या सफल मानता जिस दिन तुझे निर्णायक की गद्दी पर बैठा देखता।''

आँखों में आँसू आ गये। इतने महान् गुरु का शिष्य हूँ मैं। दौड़ा-दौड़ा फिर गुरुदेव के पास पहुँचा। उन्हें पत्र दिखाया। उन्हें भी बड़ा आनन्द अनुभव हुआ। बोले, ''तुम्हारे गुरु सच्चे गुरु हैं। उनकी महत्ता देखकर मैं मुग्ध हूँ।'' मुझे लगा कि मैं किसी जादू से बहुत-बहुत बड़ा हो गया हूँ। आज मेरे दोनों सच्चे गुरु इहलोक त्याग चुके हैं। सोचता हूँ: 'ऐसे गुरु की शिष्यता प्राप्त करने वाले मेरे-जैसे भाग्यवान कितने हैं!'

16

मेरी जन्मभूमि

जिस गाँव में साहित्य-चर्चा करने के लिए बैठा हूँ, उसका नाम ओझवलिया है। यह मेरी जन्मभूमि है। इस गाँव के एक हिस्से को 'आरत-दुबे का छपरा' कहते हैं। यही वस्तुत: मेरी जन्मभूमि है, परन्तु वह हमेशा से इस गाँव का हिस्सा ही रहा है। 'आरत-दुबे' मेरे ही पूर्व-पुरुष थे। उन्होंने ही इस छोटे हिस्से को बसाया था, पर बसने के लिए थोड़ी-सी भूमि बलिया गाँव के मालिक ओझा लोगों ने उन्हें माफी में दे दी थी। अब दोनों ही हिस्से एक हो गये हैं। इस तरह गाँव के नाम के साथ दो शब्द बहुत जुड़े दिखते हैं—'अवली' पल्ली और 'छपरा'। छपरा की परम्परा पूरब में छपरा शहर तक जाकर समाप्त हो जाती है और 'अवली' ग्राम की परम्परा पश्चिम में 'बलिया' तक आती है। मेरा गाँव संयोग से छपरा और अवली का योग है। मुझे इन शब्दों में इस भूभाग का चिरन्तन इतिहास स्पष्ट रूप से समझ में आता है। वस्तुत: बलिया और छपरा नाम के नगरों के मध्यवर्त्ती भूभाग को गंगा और सरजू जैसी दो महानदियों का कोप बराबर सहते रहना पड़ा है। अधिकांश गाँव सचमुच ही छप्परों के बने हैं, क्योंकि हर साल गंगा की बाढ़ में उनके बह जाने की आशंका बनी रहती है। इस बाढ़ के कारण ही कई-कई गाँव प्राय: एक जगह झुण्ड बाँधकर बसने को बाध्य होते हैं। इन ग्रामों की 'अवली' को कोई भी पर्यवेक्षक आसनी से लक्ष्य कर सकता

है। तो इस भूभाग का इतिहास ही निरन्तर बनते और मिटते रहने का है। इसीलिए यहाँ के निवासियों में एक प्रकार का 'कुछ परवा नहीं' भाव विकसित हो गया है। एक अजीब प्रकार की मस्ती और निर्भीकता इन लोगों के चेहरों पर दीखती है। विपत्ति के थपेड़ों से चेहरे सहज ही नहीं मुरझाते। कठिनाइयों में से रास्ता निकाल लेना इनका स्वभाव हो गया है। इतिहास की यही विरासत इन्हें मिली है, नहीं तो गंगाजी के दोनों किनारों से कई मील की दूरी में न तो यहाँ कोई पुरातत्त्व का अवशेष बच पाया है, न साहित्य का इतिहास लिखने वालों को प्रलुब्ध करने लायक कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री। जब मैं अपनी विद्यार्थी-अवस्था में हिन्दी या संस्कृत का इतिहास पढ़ता था, तो मैं आश्चर्य और लोभ से देखता था कि हमारे इस भूभाग की कोई चर्चा उसमें नहीं है। लेकिन मजेदार बात यह है कि इस भूमि ने संस्कृत के इतने विद्वान् पैदा किये हैं कि कई गाँव 'लुहरी काशी' (छोटी काशी) होने का दावा करते हैं और ठीक करते हैं। मेरे गाँव से थोड़ी ही दूर पर 'छाता' नाम का एक गाँव है, जिसे यहाँ 'लुहरी काशी' कहते हैं। बहुत दिनों से मेरे मन में यह क्षोभ संचित था। मैं सोचता था कि क्या साहित्य में इस विद्वत्प्रसू भूमि की कोई देन नहीं है! अचानक आज साहित्य-चर्चा करने का अवसर पाकर मेरे चित्त में वही क्षोभ सावन के मेघ की भाँति घुमड़ पड़ा है। क्या यह सदा का उपेक्षित भूभाग है? बुद्धदेव जहाँ-जहाँ गये थे, उन स्थानों का यदि मानचित्र बनाया जाय तो निस्सन्देह उनका पदार्पण इधर हुआ होगा, पर प्रमाण कहाँ है? स्कन्दगुप्त की विराट् वाहिनी भीतरी गाँव होते हुए गयी थी। निस्सन्देह उन्होंने इस भूमि पर कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा की होगी, पर सबूत कहाँ है? कुमार-जीव के पिता निस्सन्देह इसी भूभाग के नर-रत्न थे, पर मैं कैसे बताऊँ कि वे किस गाँव के रहने वाले थे? गंगा और सरयू के जल-सन्निपात से धौत भूमि की शोभा देखने के लिए जब कालिदास निकले होंगे तो क्या उड़कर चले गये होंगे? निस्सन्देह इन गाँवों में कहीं-न-कहीं ठहरे होंगे। बहुत सम्भव है कि 'रघुवंश' के महत्त्वपूर्ण सर्गों का कोई हिस्सा इधर ही लिखा गया होगा; परन्तु मेरी बात का विश्वास कौन करेगा? मैं साहित्य की चर्चा करने का अवसर पाकर असल में उतना प्रसन्न नहीं हूँ जितना होना चाहिए। भारतवर्ष के धारावाहिक साहित्य में हमारे इस भूभाग का क्या महत्त्व होगा भला!

अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते वह बालू मुझे अच्छी लग जाय। और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ—"नेह कि गोई रहै सखि लाज सो कैसे बँधे जल जाल के बाँधे?" मेरा विचार यह है कि इतिहास का साहित्य कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन—मनुष्य के धारावाहिक जीवन—के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं, वे किसी उजड़े महल या गाड़ी हुई ईंटों से कम महत्त्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे-से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है। ब्राह्मणों

की बात तो बहुत-कुछ लोग जानते भी हैं (यद्यपि कम लोग ही यह जानते हैं कि वे कितना कम जानते हैं!), मेरे गाँव में भड़भूजे का पेशा करने वाली 'काँदू' जाति है, जो संस्कृत 'कान्दविक' शब्द से सम्बद्ध है। गुप्त सम्राटों ने इन्हें वैश्य की मर्यादा दी थी, ऐसा मैंने किसी प्राचीन लेख में पढ़ा है। आपको एक विनोद की बात बताऊँ। एक बड़े अच्छे बंगाली पण्डित ने कलाओं के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक में दस-बारह पन्नों में 'कन्दु-पक्व' अन्न की कला की विवेचना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार कन्दु-पक्व अन्न स्पर्श-दोष से दूषित नहीं होता। उक्त बंगाली पण्डित ने अनेक कोशों और स्मृतियों के वचन उद्धृत करके यह साबित करना चाहा कि कन्दु-पक्व अन्न पावरोटी-जैसी कोई चीज होती थी। अगर वे हमारे गाँव में आ गये होते तो उन्हें इतने परिश्रम के बाद इतनी गलत-सी चीज सिद्ध करने की कोई जरूरत ही नहीं होती। 'कन्दु' इन्हीं काँदुओं के भाड़ का नाम है! कौन नहीं जानता कि भड़भूजे की भुनी हुई सामग्री स्पर्श-दोष से रहित होती है! जिन पण्डितजी की बात लिख रहा हूँ, उनकी विद्वत्ता और बहुश्रुतता का मैं कायल हूँ और इसीलिए मुझे थोड़ा-थोड़ा गर्व होता है कि मेरा गाँव इतने बड़े पण्डित के ज्ञान में थोड़ा-सा अंश और जोड़ सकता था! फिर हमारे गाँव में कलवार या प्राचीन 'कल्यपाल' लोगों की बस्ती है, जो एकदम भूल गये हैं कि उनके पूर्वज कभी राजपूत सैनिक थे और सेना के पिछले हिस्से में रहकर 'कल्यवर्त्त' या 'कलेऊ' की रक्षा करते थे। न जाने किस जमाने में इन लोगों ने तराजू पकड़ी थी और अब पूरे 'बनिया' हो गये हैं! ये क्या पुरातत्व विभाग के किसी ईंट-पत्थर से कम मूल्यवान हैं? मेरे गाँव में और भी बनिया जाति के लोग हैं। उनकी परम्परा सुनाता हूँ तो मुझे रसेल साहब की वह बात याद आये बिना नहीं रहती कि मध्यप्रान्त में एक भी बनिया जाति उन्हें ऐसी नहीं मिली, जिसकी प्राचीन परम्परा किसी-न-किसी राजपूत-कुल से सम्बद्ध न हो। मेरे गाँव की परम्परा भी उनका समर्थन करती है। एक जाति यहाँ बसती है—तुरहा। जातियों की तालिका में इनका नाम तो मिल जाता है, पर किसी नृतत्त्व-शास्त्रीय विवेचन में मैंने इनकी चर्चा नहीं पढ़ी। मेरा अनुमान है कि यह जाति आर्यों और गोंडों के मिश्रण की एक कड़ी है। नृतत्त्व-शास्त्र के अध्येता इनको अपनी अधीति का उपयोगी विषय बना सकते हैं। अपने गाँव के धोबियों के नृत्य-गीत में मुझे कोई बड़ी भूली हुई परम्परा का स्मरण हो आता है। मेरे गाँव की सबसे मनोरंजक जाति जुलाहों की है। इनके पुरोहित भी मेरे गाँव में हैं। मैंने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में जुलाहों के साथ नाथ-परम्परा के योग का उल्लेख किया है। अपने गाँव की ही एक मजेदार बात मैं उस पुस्तक में लिखना भूल गया था। जुलाहों के पुरोहित यहाँ 'साईं' कहे जाते हैं। साईं अर्थात् स्वामी। नाथ परम्परा में गुरु को 'नाथ' या 'स्वामी' कहते थे। 'गोरखबानी' में गोरखनाथ मछन्दरनाथ को बराबर साईं कहकर सम्बोधन करते हैं। अब वे लोग पक्के मुसलमान हो गये हैं। केवल नाम में अपनी पुरानी स्मृति ढोते आ रहे हैं। हमारे गाँव के शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण भी बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जाति के हैं। शक-द्वीप सम्भवत: आधुनिक सगडियाना है, जहाँ के 'मगी' लोग सारे संसार में तन्त्र-मन्त्र के लिए

प्रख्यात थे। सुना है, 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में भी इनकी चर्चा है! अंग्रेजी में 'मैजिक' शब्द में भी इन मगों की स्मृति रह गयी है। भारतवर्ष में यह जाति ब्राह्मण की ऊँची मर्यादा पा सकी है। और सच पूछिए तो ये लोग जहाँ-जहाँ गये थे, वहीं आदर और सम्मान पा सके थे। अब भी ये सुसंस्कृत और चतुर हैं। मेरे गाँव में 'दुसाध' नाम की अन्त्यज जाति है। इनके रंग-रूप को देखकर कोई नहीं कह सकता कि ये लोग अन्त्यज जाति है। अंग्रेज लोग जब देश में राज्य-स्थापना में समर्थ हुए तो उन्हें कुछ अत्यन्त दुर्दान्त जातियों का सामना करना पड़ा था। उत्तर भारत में अहीर और दुसाध तथा बंगाल के डोम बड़े लड़ाके थे और कानून मानने से सदा इनकार करते थे। चतुर अंग्रेजों ने इन जातियों से चौकीदार का काम लेकर इन्हें वश में किया! लोहा से लोहा काटने की नीति में अंग्रेज अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता। अहीरों का बहुत-कुछ अध्ययन हो चुका है। जाना गया है कि किसी जमाने में इस दुर्दान्त जाति का राज्य अनेक प्रदेशों में था। बंगाल के डोम सहजिया बौद्ध थे और किसी जमाने में प्रबल पराक्रान्त राज्यों के अधीश्वर थे। अधिकार-वंचित होने पर ही ये लोग दुर्दान्त हो गये थे। दुसाधों के पुरातन इतिहास का कोई पता मुझे नहीं है, पर निस्सन्देह ये भी किसी अधिकार-च्युत बड़ी जाति के भग्नावशेष होंगे।[1] मेरे गाँव के दुसाध बड़े वीर, विनयी और भद्र हैं। ये अपने को अब दु:शासन वंशज बताने लगे हैं। इनके देवता राहु बाबा हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं की ग्रहमण्डली में जो राहु देवता हैं, वे इन्हीं की देन तो नहीं हैं। इतना तो निश्चित है कि राहु वैदिक देवता नहीं हैं। आज-कल राहु के नाम पर चलने वाले वैदिक मन्त्र (काण्डात् काडं प्ररोहन्ती.) में 'र' और 'ह' अक्षरों के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे राहु से सम्बद्ध माना जा सके। जो हो, यह जाति भारतीय इतिहास की निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण देन है। कैसे कहूँ, मेरी जन्मभूमि के इस छोटे-से गाँव में महाकालदेवता के रथचक्र की लीक एकदम नहीं पड़ी है।

यदि मुझे अपने गाँव की सांस्कृतिक पैमाइश करने की सुविधा प्राप्त हो तो मेरा विश्वास है कि कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री अवश्य मिलेगी। यहाँ गाँव में कालीजी के कई स्थान हैं, जो एक चबूतरे पर नीम के पेड़ के नीचे मिट्टी के गोल-गोल शंकु-आकृति की पिण्डियाँ हैं। कहते हैं, यह प्रथा बहुत पुरानी नहीं है। भगवती का शिखरहीन मन्दिर मेरे देखने में यहाँ एक ही है, जो मेरे गाँव से सटा हुआ है। सबसे आश्चर्यजनक है महावीरजी का (अर्थात् हनुमानजी का) स्थान। इस प्रदेश में ऊपर-ऊपर सजाये हुए क्रम-ह्रस्व तीन चौकोर चबूतरों को ही महावीरजी कहते हैं। इन्हें देखकर बौद्ध-स्तूपों की याद बरबस आ जाती है। मनोरंजक बात तो यह है कि इन स्थानों पर महावीरजी की जब जै-जैकार की जाती है तो 'महावीर स्वामी' की जै बोली जाती है। मुझे

---

1. मुझे श्री भगवतशरणजी उपाध्याय ने बताया है कि गुप्त नरपतियों के लेखों में 'दु:साध्य साधन' करने वाली जिस जाति का उल्लेख है, उन्हीं का वर्त्तमान रूप यह दुसाध जाति है। 'दु:साध्य-साधनिक' गुप्त सम्राटों की पुलिस का कोई विभाग था।

यह 'स्वामी' और स्तूपाकृति स्थान और 'महावीर' शब्द बहुत तरह के अनुमान को प्रेरित करते हैं। क्या किसी प्राचीन बौद्ध या जैन या मिश्र परम्परा से इनका कोई सम्बन्ध है? अपने गाँव की ठाकुरबारी में जो हनुमानजी हैं, वे मूर्त्ति-रूप में हैं, स्तूप-रूप में नहीं। मेरे गाँव की देवतामण्डली में इधर हाल ही में एक नयी देवी का पर्दापण हुआ है। इनका नाम है 'पिलेक-मैया' अर्थात् प्लेग-माता हैं। इनका स्थान भी बन गया है, पूजा भी होने लगी है ओर एक भक्त पर उनका आवेश भी होता है। सौ वर्ष बाद यदि कोई कहे कि प्लेग अंग्रेजी शब्द है और यह देवी अंग्रेजी साहचर्य की देन है तो निष्ठावान् हिन्दू शायद कहने वाले का सिर तोड़ देगा! लेकिन मेरे गाँव की 'पिलेक-मैया' हिन्दुओं के अनेक देवताओं पर जबरदस्त प्रश्न-चिह्न के रूप में तो रह ही जायगी। जब मैंने एक मित्र को बताया था कि कुरुकुल्ला और उनकी श्रेणी की देवियाँ तिब्बती परम्परा की देन हैं, यहाँ तक कि दस महाविद्याओं की 'तारा' ओर 'छिन्नमस्ता' का सम्बन्ध तिब्बत के प्राचीन 'बोत' धर्म से साबित किया जा सका है, तो उन्होंने मुझे 'वज्रनास्तिक' कहकर तिरस्कार किया था। काश, मेरे मित्र जानते कि 'वज्र' भी आर्येतर जातियों के संस्रव का फल हो सकता है।

ऐसे ऐतिहासिक अवशेषों के भीतर से यहाँ 'मनुष्य' की दुर्जय विजय-यात्रा चली है। निस्सन्देह साहित्य के इतिहास में इन संस्कृति-चिह्नों की कोई चर्चा न आना क्षोभ का ही विषय है। हमारी भाषा में इनकी स्मृति है, हमारे जीवन में इनका पद-चिह्न है। हमारी चिन्ताधारा में इनका कोई स्थान होगा ही नहीं, यह कैसे मान लूँ? परन्तु साहित्य का जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है, वह क्या मनुष्य की अप्रतिहत विजय-यात्रा का कोई आभास देता है? हम क्यों नहीं अपने को ही पढ़ने का प्रयास करते? आप जब मुझसे अनेक साहित्यिक प्रश्न पूछते हैं तो मेरा चित्त बहुत प्रसन्न नहीं होता। लेकिन आपका एक प्रश्न मुझे थोड़ा उत्फुल्ल कर सका है। आप पूछते हैं कि इस संक्रान्तिकाल में साहित्यिकों का क्या कर्त्तव्य है। यहाँ बैठकर मैं उस कर्त्तव्य को जितना स्पष्ट और अनाविल रूप में देख रहा हूँ, उतना अन्यत्र से शायद ही देख सकता।

मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ कि नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य सिमटता आ रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी नीति-रीति चिरन्तन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मन्दिर ही अविमिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर-तरण के लिए कृत-संकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है। वह अपनी इष्टसिद्धि के लिए बहुत भटका है। अब भी भटक रहा है, पर खोजने में वह कभी विचलित नहीं हुआ। ये अधभूले नृत्यों-गीतों की परम्पराएँ उसकी नवग्राहिणी प्रतिभा के चिह्न हैं, ये नवीन देवताओं की कल्पना उसके राह खोजने की निशानी हैं और ये भूली हुई परम्पराएँ इस बात का संकेत करती हैं कि वह परम्परा और संस्कृति के नाम पर जमे हुए किट्टाभ संस्कारों को फेंक देने की योग्यता रखता है। हमारे गाँव की विविध जातियाँ यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि तथाकथित जाति-प्रथा कोई फौलादी ढाँचा नहीं है, उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे। संक्रान्ति-काल

से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर साहित्यिक का कर्त्तव्य तो स्पष्ट है कि वे कभी किसी प्रथा को चिरन्तन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास-विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो 'मनुष्यता' है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य और क्या राजनीति, सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।

17

भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। 'धर्म' के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो यह समस्याओं का समाधान है। उसकी अपनी समस्या कुछ भी नहीं है; परन्तु नाना कारणों से सारा भारतीय जनसमूह उस बड़े उपलब्ध सत्य को आत्मसात् नहीं कर सका है। क्यों ऐसा नहीं हो सका और क्या करने से भारतीय संस्कृति—अर्थात् भारतीय श्रेष्ठ व्यक्तियों का सर्वोत्तम—सारी जनता की अपनी चीज बन सकती है, यही समस्या है।

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। इस इतिहास का जितना अंश जाना जा सकता है, उसकी अपेक्षा जितना नहीं जाना जा सकता, वह और भी पुराना और महत्त्वपूर्ण है। न जाने किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ आ-आकर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं, नया रूप देती रही हैं और समृद्ध करती रही हैं। इस देश का सबसे पुराना उपलब्ध साहित्य आर्यों का है। इन्हीं आर्यों के धर्म और विश्वास नाना अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में बनते-बदलते अब तक इस देश की अधिकांश जनता के निजी धर्म और विश्वास बने हुए हैं। परन्तु आर्यों का साहित्य कितना भी पुराना और विशाल क्यों न हो, भारतवर्ष के समूचे जन-समूह के विकास के अध्ययन के लिए न तो वह पर्याप्त ही है और न अविसम्वादी ही। इस देश में बहुत-सी आर्येत्तर जातियाँ अत्यन्त सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करती थीं, बहुत-सी ऐसी भी थीं जिनके आचार-विचार में जंगलीपन का प्राधान्य था। संघर्ष में पड़कर आर्यों को दोनों प्रकार की जातियों से प्रभावित होना पड़ा। उनके साहित्य, शिल्प और आचार-विचार में ये प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट हैं। आर्यों के पश्चात् भी अनेक जातियाँ यहाँ आयी

हैं। कुछ ने आर्यों के धर्म-विश्वास को कुछ अंशों में स्वीकार किया है, कुछ ने दूर तक उसे प्रभावित किया और कुछ ऐसी भी आयी हैं, जो आर्यों के साथ एकदम नहीं मिल सकी हैं, फिर भी एक जगह रहने के कारण परस्पर प्रभावित हुई हैं। इन्हीं नाना जातियों का मिलनक्षेत्र यह भारतवर्ष है। इन मनुष्यों को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करना ही हमारी असली समस्या है। नाना आकारों से अलग-अलग समय पर आते रहने के कारण इस विशाल जन-समूह का ऐतिहासिक विकास एक समान नहीं हुआ है, इनके मिलने की भूमिका भी सर्वत्र प्रशस्त नहीं बन सकी है। इसलिए कोई भी नया कार्यक्रम सबको एक ही तरह से प्रभावित नहीं कर पाता, जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष होता है। यह संघर्ष बहुत बार चिन्ता और निराशा का कारण हो जाता है। वस्तुत: यदि हम समूची जनता को ठीक-ठीक समझें तो निराशा या दुश्चिन्ता का कोई कारण नहीं रहेगा। किसी-किसी क्षेत्र में सहानुभूति और धैर्य की आवश्यकता होगी और किसी-किसी में समय की आवश्यकता अनुभूत होगी। इतिहास-विधाता को किसी काम में जल्दी नहीं होती। उनका अपना कार्यक्रम सब समय अल्प शक्तिमान मनुष्य के सोचे कार्यक्रम के अनुकूल ही नहीं पड़ता। भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि बहुत-सी ऐसी सांस्कृतिक उलझनें केवल 'समय' के मरहम से सुलझ गयी हैं, जो किसी समय दु:समाधेय मानी गयी होंगी। आर्यों और द्रविड़ों की सभ्यताओं का संघर्ष और बाद में समन्वय एक चिन्तनीय ऐतिहासिक सत्य है। महाभारत और पुराणों के अध्ययन से आर्यों और नागों के क्रान्तिकर संघर्ष का पता चलता है; परन्तु महाकाल की छाया ने उस संघर्ष को स्मृतिपट से बहुत दूर हटा दिया है। आगे चलकर इन नागों की अनेक रीति-नीतियाँ आर्य-विश्वास का अंग बन गयीं। सिन्दूर नाग-चूर्ण है। आर्य स्त्रियों ने इसे नागजाति की आचार-पद्धति से ग्रहण किया था, परन्तु आज वह हिन्दू-विवाह का अविच्छेद्य अंग हो गया है। केवल आर्यों और द्रविड़ों का संघर्ष ही अन्त तक सुखकर फलशाली हुआ हो, ऐसा नहीं है! आर्यों और मंगोलो, शकों और द्रविड़ों के संघर्ष भी समान भाव से समन्वय के सुनहरे फल में परिणत हुए हैं। मनुष्य युक्ति-तर्क मानकर चलने वाला प्राणी है। छोटी-छोटी बातों को लेकर वह दीर्घकाल तक लड़ता नहीं रह सकता।

मुसलमानों के आने के पहले इस देश में नाना विश्वासों और आचार-विचारों के भेद से नाना प्रकार के धर्म-मत प्रचलित थे। परन्तु जीवन के प्रति उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार की एकरूपता थी। इस एकरूपता के कारण ही नाना मतों के मानने वाले, नाना स्तरों पर खड़े हुए, नाना मर्यादाओं में बँधे हुए अनेक जनवर्ग एक सामान्य नाम से पुकारे जाने लगे। यह नाम था 'हिन्दू'। हिन्दू अर्थात् भारतीय। मध्ययुग में भारतीय जनसमूह दो मोटे विभागों में बँट गया—हिन्दू और मुसलमान। इस विभाग का कारण जीवन के प्रति दृष्टिकोण की विभिन्नता थी। हिन्दू कहे जाने वाले जनसमूह में अनेक स्तर-भेद थे। इस समूचे जनसमूह का अध्ययन करने के लिए पण्डितों ने नाना-भाव से इसका वर्गीकरण किया है। अत्यन्त सहज और लोकप्रिय वर्गीकरण रिजली का है।

उन्होंने इस समूचे जनसमूह को सात भागों में इस प्रकार बाँटा था:

(1) कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो किसी कबीले का परिवर्त्तित रूप हैं। आभीर (परवर्त्ती काल के 'अहीर') एक विशेष मानव-श्रेणी (कबीला) थी, जो घूमती-घामती इस देश में पहुँची और यहाँ आकर विशाल हिन्दू-समाज की एक जाति बन गयी। इस प्रकार की जातियों की विशेषता यह है कि वे अपने अन्दरूनी मामलों में विशेष प्रकार के सामाजिक नियम और रीति-नीति का पालन करती हैं। केवल आंशिक रूप में ब्राह्मण-श्रेष्ठता स्वीकार कर लेती हैं। विवाह, श्राद्ध आदि के मौकों पर ये ब्राह्मणों को बुलाती हैं, परन्तु कभी-कभी इतना भी नहीं होता। डोम, दुसाध आदि जातियों ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है, पर शायद ही उनके किसी अनुष्ठान में ब्राह्मण बुलाये जाते हों। (2) कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो खास प्रकार के पेशे के कारण एक विशेष श्रेणी की मान ली गयी हैं। चमार, लुहार बढ़ई आदि जातियाँ पेशों के कारण बनी हैं। कभी-कभी इन जातियों के इतिहास से विचित्र सामाजिक उथल-पुथल का पता चलता है। सराक जाति कपड़ा बुनने के पेशे से बनी; पर वे वस्तुतः जैन श्रावकों के परिवर्त्तित रूप हैं। पटवेगर जाति अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध करती है। मध्यप्रदेश में जो जातियाँ पेशे के कारण बनिया कही जाती हैं, उनका इतिहास खोजने पर रसेल को मालूम हुआ था कि वे सभी मूलतः राजपूत जातियाँ हैं। पेशे के हिसाब से वस्तुतः सारी हिन्दू जाति बँटी हुई है। कितनी ही ब्राह्मण जातियाँ खेती का पेशा स्वीकार करने के कारण मर्यादा-भ्रष्ट मान ली गयी हैं। (3) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो मूलतः कोई धार्मिक सम्प्रदाय थीं। उत्तर भारत के अतीथ, बंगाल के युगी और बोष्टम (वैष्णव) तथा दक्षिण भारत की अनेक जातियाँ ऐसी ही हैं। (4) दो जातियों के मिश्रण से अनेक जातियाँ बनी हैं। (5) कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें रिजली ने राष्ट्रीय जातियाँ (नेशनल कास्ट्स) बताया है। नेवार ऐसी ही जाति है। (6) अपने मूलस्थान से दूर जा पड़ने के कारण कितनी ही जातियाँ नवीन जाति बन गयी हैं। खोज से अनुमान किया गया है कि गुजरात के नागर ब्राह्मण और बंगाल के कायस्थों का मूल शायद एक ही है। (7) फिर ऐसी भी जातियाँ हैं, जो रीति-नीति का ठीक पालन न करने के कारण एक विशेष जाति से अलग कर दी गयी हैं और अपने को नयी जाति ही बताने लगी हैं। कभी-कभी विधवा-विवाह के प्रश्न पर एक जाति की दो शाखाएँ बन गयी हैं। विधवा-विवाह करने वाली जाति हीन मान ली जाती है। इस प्रकार इस देश का हिन्दू जनसमूह नाना स्तरों में विभाजित है। इन विभागों को दृढ़ करने के लिए ऐसे अनेक कठोर नियम बनाये गये हैं, जो दुर्विलंघ्य हैं। छूआछूत, अन्तर्विवाह, हुक्का-पानी आदि बातें इन जातियों के परस्पर सांकर्य में बाधा भी देती हैं और इनकी सामाजिक मर्यादा भी बताती हैं। पुराना साहित्य और इतिहास साक्षी है कि मुसलमानों के आने के पहले यह मर्यादा उतनी दुर्लघ्य नहीं बनी थी, जितनी बाद में हो गयी। बाद में भी समाज एकदम जीवनहीन और गतिहीन काठ के खानों में बन्द नहीं था, यद्यपि उत्तरोत्तर बन्द होने की प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी है।

इस समूचे जनसमूह को एकरूपता देने वाला एक दृष्टिकोण है। वैदिक काल से

मुस्लिम काल तक अनेक संघटनों और आघात-प्रत्याघातों के बाद समूचे भारतीय जनसमूह में यह दृष्टि प्रतिष्ठित हुई थी। इसे कर्मफल का सिद्धान्त कहते हैं।

कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्म-फल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता। सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस (ईसवी पूर्व 5 वीं शताब्दी) ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है, परन्तु विलियम जोन्स, कोलब्रुक, गार्वे, हॉपकिन्स प्रभृति विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त उक्त दार्शनिक ने भारतवर्ष से ही सीखा था। कुछ यूरोपीय पण्डितों को यह बात मान्य नहीं। किसी-किसी ने तो उलटे यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दुओं ने ही यह बात पाइथागोरस से सीखी थी। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद कीथ ने 1909 ई० की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में इस विषय पर एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा है। कीथ साहब नाना विचारों की अवतारणा के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पाइथागोरस पर किसी प्रकार का हिन्दू-प्रभाव तो नहीं जान पड़ता, किन्तु हिन्दुओं का कर्म-बन्धन-सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, यह सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता। इसका सुदूरप्रसारी परिणाम समस्त भारतीय समाज को प्रभावित किये हुए है। इसने निश्चित रूप से हिन्दुओं की मनोवृत्ति को इस प्रकार मोड़ दिया है, जिसकी तुलना समस्त संसार में नहीं मिल सकती। हजारों वर्ष से भारतीय इतिहास में जो जन्म से ही नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव नहीं आया वह इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसके किये कर्म का फल दूर नहीं हो सकता। चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिए कर्म की दुहाई देता है, ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कर्म की दुहाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के लिए जवाबदेह है। कोई न तो किसी दूसरे के बदले उसे भोग ही सकता है और न उद्योग करके संचित और प्रारब्ध कर्मों को बदल ही सकता है। इस सिद्धान्त ने हिन्दुओं को कर्म के उद्योग में अत्यधिक वैयक्तिकताप्रवण बना दिया है, पर साथ ही जागतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन कर दिया है। जो कुछ हो रहा है, उसका निश्चित कारण है। उसे बदला नहीं जा सकता। अधिक-से-अधिक आदमी फिर अपना भला कर सकता है।

एक तरफ तो यह कर्मफल का सिद्धान्त और दूसरी तरफ पेशों के आधार पर स्तरभेद को सनातन कर देने की व्यवस्था—इन दोनों ने इस समूचे जनसमूह के आध्यात्मिक विकास में एक अद्भुत जड़ता ला दी है। पेशा धर्म तभी कहा जा सकता है जब उसमें व्यक्तिगत लाभ-हानि की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव प्रधान हो। इस दृष्टि से कोई भी पेशा खराब नहीं है। धर्म मनुष्य से त्याग की आशा रखता है। निस्सन्देह बहुत-से ऐसे पेशे हैं जिनमें व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव ही अधिक है। गन्दगी साफ करने का पेशा, श्मशान में शव-संस्कार करने का पेशा और हल जोतने का कार्य समाज

के मंगल के लिए अत्यन्त जरूरी है। निस्सन्देह इनके करने वालों में 'त्याग' भी बहुत है; परन्तु जिस त्याग से गौरव की अनुभूति नहीं होती, वह धर्म नहीं कहा जा सकता। मेहतर अगर अपने पेशे से गौरव अनुभव करता है तो वह धार्मिक है; परन्तु अगर वह लाचारी से या जड़ता-वश अपनी वंश-वृत्ति को येन-केन प्रकारेण पालन किये जाता है, अवसर पाने पर उससे भागने का प्रयत्न करता है, तो उसमें धर्म-बुद्धि नहीं है। इसीलिए मेहतर के पेशे को जो व्यक्ति बिना किसी गौरवानुभूति के किये जा रहा है, वह समाज की मंगल-बुद्धि से उसे नहीं कर सकेगा। एक तरफ तो जाति-व्यवस्था ने पेशों को धर्म के साथ सम्बद्ध किया है और दूसरी तरफ विभिन्न पेशों के सम्मान में भी ऊँच-नीच की व्यवस्था बाँध दी है। दोनों एक साथ नहीं चल सकते; या तो सभी पेशे धर्म हैं और इसीलिए एक समान सम्मान के अधिकारी हैं या फिर वे यदि समान नहीं हैं तो धर्म भी नहीं कहे जा सकते। इससे समाज में जड़ता और धृष्टता का आना अनिवार्य है।

मध्ययुग में अनेक विचारकों ने ऊँच-नीच के भेद पर कसकर आघात किया है। उन्होंने इसे दूर कर देने का प्रयत्न भी किया है। ये प्रयत्न अधिकांशत: धार्मिक भाव से प्रेरित रहे हैं। इन आन्दोलनों के मूल में प्राय: सर्वत्र कुछ इस प्रकार का तर्क रहा है कि सभी मनुष्य भगवान् के बनाये हैं, सभी परमपिता की सन्तान हैं, अतएव सभी समान हैं।

ये आन्दोलन सफल नहीं हुए हैं। इन धार्मिक सन्तों के नाम पर पन्थ चले हैं और प्राय: ऐसा हुआ है कि पन्थ ही या तो उसी कठोर व्यवस्था के अनुयायी बन गये हैं या स्वयं एक अलग जाति बन गये हैं। नाथ लोगों की जाति बन गयी है, दक्षिण के लिंगायतों की जाति बन गयी है, बंगाल के वैष्णवों की जाति बन गयी है। कान्हू के शिष्य सपेरों की जाति बन गयी है। जिन लोगों ने कूड़ा साफ करना चाहा था, उनके नाम के कई घूरे और बढ़ गये हैं। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऊँच-नीच में भेद को उठा देने के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। जो लोग अब भी आशा लगाये हैं कि धार्मिक आन्दोलन करके इस कठोर व्यवस्था को शिथिल कर देंगे, वे इतिहास से बहुत कम सीख सके हैं। आध्यात्मिक ऊँचाई तक समाज के बहुत थोड़े लोग ही पहुँच सकते हैं। बाकी लोग छोटे-मोटे दुनियावी टंटों में उलझे रह जाते हैं। ये आध्यात्मिक आदर्श को विकृत कर देते हैं।

राजनीतिक और आर्थिक कारणों से भी जातियों की मर्यादाएँ घटी-बढ़ी हैं। राजकीय शक्ति पा जाने के बाद छोटी समझी जाने वाली जाति भी उत्तम क्षत्रिय मान ली गयी है और आर्थिक उन्नति के साथ शूद्र का दर्जा बढ़कर वैश्य का दर्जा बन गया है। इसके उदाहरण बहुत हैं। वस्तुत: इन कारणों से जातियों की सामाजिक मर्यादा जितनी बढ़ी है, उतनी धार्मिक आन्दोलनों के कारण एकदम नहीं। ऐसा लगता है कि भारतवर्ष की शताधिक जातियों को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करने का एकमात्र तरीका यह है कि उनकी राजनीतिक और आर्थिक मर्यादा ऊँची की जाय। जिस दिन इस अकारण दलित जनसमूह में राजनीतिक गरिमा और आर्थिक स्वाधीनता का संचार होगा, उसी दिन वह वास्तव में

मुक्त हो सकेगा। भगवान् की सन्तान होने का उनका दावा पहले स्वीकृत हो चुका है, परन्तु उस दावे से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। नये सिरे से उस दावे के बल पर वे जातियाँ अधिक उन्नत और अग्रसर हो जायेंगी, ऐसा विश्वास करने का कोई उचित कारण नहीं है।

लेकिन केवल हिन्दू ही इस देश में नहीं बसते। अन्य धर्मावलम्बी भी कम नहीं हैं। सबसे बड़ी संख्या मुसलमानों की है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण हिन्दुओं से भिन्न है। मुसलमान लोग एक संगठित धर्म-मत (मजहब) के अनुयायी हैं। मजहब में धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ सामाजिक और धार्मिक विधि-निषेध एक-दूसरे से गुँथे हुए रहते हैं। 'हिन्दू' कहे जाने वाले जनसमूह में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता, परन्तु मुसलमानी जनसमूह का 'मजहब' इसके ठीक विपरीत है। वह व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। हिन्दू-समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह हैं, किन्तु मुस्लिम समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक वृहत् समूह का अंग है। इसका सीधा मतलब यह है कि हिन्दू समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता रखता है, किन्तु कोई बाहर का आदमी उस जाति का अंग नहीं बन सकता। मुसलमान-समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता नहीं रखता और कोई भी बाहरी आदमी उस समाज का अंग बन सकता है। इन दोनों दृष्टियों में बड़ा अन्तर है। इस प्रकार के अन्तर से यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों कभी मिल ही नहीं सकते। वस्तुत: इससे कहीं अधिक अन्तर आर्यों और द्रविड़ों के दृष्टिकोणों में था, पर वे दोनों खूब अच्छी तरह मिल गये हैं। इसलिए हिन्दू और मुसलमान मिल ही नहीं सकते, यह गलत मन्तव्य है; किस रास्ते मिल सकते हैं, यह विचारणीय प्रश्न है।

जब हम मिलन के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारा उद्देश्य ऐसे मिलन से है, जिससे समूची मनुष्यता कल्याण की ओर अग्रसर हो सके। ठगों में हिन्दू-मुस्लिम एकता बहुत दूर तक सफल हुई थी, पर वह एकता वांछनीय नहीं है। इतिहास से हम इस विषय में शायद कुछ सीख सकते हैं। मध्ययुग में हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने के लिए भी धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयास हुए हैं। उन्हें भगवान् की दो प्यारी आँखों के समान बताया गया है। अब इस युक्ति से हिन्दू-मुस्लिम-मिलन की भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयत्न हो रहा है। निस्सन्देह इन प्रयत्नों के पीछे जो शुभ-बुद्धि है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शुभ-बुद्धि का सर्वत्र स्वागत भी होना ही चाहिए, क्योंकि उससे किसी-न-किसी प्रकार मंगल ही साधित होता है; परन्तु इतिहास की शिक्षा यह है कि यह मंगल-साधन बहुत अप्रत्यक्ष होता है। मुझे मुस्लिम-साहित्य के विशेष अध्ययन का कोई सुयोग नहीं मिला, हिन्दू साहित्य का भी बहुत उथला ज्ञान ही पा सका हूँ। इसलिए जोर देकर कुछ कहने में संकोच होता है; परन्तु जितना कुछ साहित्य अन्य मूलों से पा सका हूँ, उस पर से कुछ नतीजे मेरे मन में ऐसे निकले हैं, जिन्हें कह देने से, आशा है कि, कल्याण ही होगा। अपनी अल्पज्ञता के भय से उन्हें दबा रखना श्रेयस्कर नहीं है।

मैंने तीन तरफ से हिन्दू-मुस्लिम-मिलन का सन्धान पाया है। एक मार्ग सन्त और विद्वज्जनों का रहा है। हिन्दू और मुस्लिम जनता वस्तुत: उच्चतर अर्थ में एक ही धर्म का

पालन करती है—इस विषय पर फारसी में कुछ पुस्तकें लिखी गयी थीं। एक 'मज्म-अ-उल-बहरन' दाराशिकोह की लिखी है। इसका अंग्रेजी में भाषान्तर मैंने देखा है। पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का सम्मिलन कराने का प्रयास है। हिन्दी में भी ऐसी पुस्तकें लिखी गयी हैं। ऐसी पुस्तकें भी बहुत है जिनमें कुरान और गीता तथा वेद और कुरान के भक्तिमय आवेग वाले पद्यों में भी समानता खोजी गयी है और उच्चतर नीति के क्षेत्र में दोनों के उपदेशों की अभिन्नता प्रतिपादित हुई है। यह एक तरह का प्रयास है, परन्तु मुझे इसमें सफलता मिलती नहीं दिखायी दी। वस्तुत: प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान जानता है कि उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र में कहीं मतद्वैध नहीं है। एक ही परमशक्ति को दोनों अलग-अलग नामों से पुकारते हैं, एक ही परमपिता के सभी पुत्र हैं; एक ही त्यागमय जीवन को सभी महापुरुष आदरणीय कह गये हैं। फिर भी इससे काम सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि साधारण जनता उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा धर्म की रूढ़ियों को अधिक मानती है। ये रूढ़ियाँ ही उसके लिए धर्म हैं। शंख बजाना या बाँग देना ज्यादा इन्द्रियग्राह्य आचार हैं और इसलिए इन्हें प्रधान मानकर कलह का सूत्रपात होता है।

एक दूसरा रास्ता नितान्त लौकिक है। नाच-गान, खेल-तमाशे, कपड़े-गहने, खरीद-बिक्री आदि बातों में हिन्दू-मुस्लिम-मिलन बहुत दूरप्रसारी है। परन्तु कठिनाई यह है कि जब तक इनके साथ उच्चतर मनोवृत्ति का योग नहीं स्थापित होता, तब तक ये चीजें हवा के साथ उड़ जाती हैं। मामूली उकसावे से यह भीत भहरा जाती है।

एक तीसरा क्षेत्र भी है जहाँ हिन्दू और मुसलमान संकोच और झिझक छोड़कर मिले हैं। इस क्षेत्र का मिलन इतना पक्का और अकृत्रिम हुआ है कि एकता के नाम पर अपील करने वाले शुभ-बुद्धि व्यक्ति तक इसकी खबर नहीं करते। कारण कि इस क्षेत्र में अलगाव का भाव एकदम लुप्त हो गया है। यह क्षेत्र है विज्ञान का। अरबी में बहुत पहले आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त आदि के ज्योतिष ग्रन्थों का अनुवांद हुआ था। इन ग्रन्थों के आधार और अनुकरण पर मुसलमान ज्योतिषियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। दशगुणोत्तर अंक-क्रम को अलखारिजमी ने सारे यूरोप में फैलाया था। मुसलमानी धर्म में मक्का की दिशा और प्रात: एवं सायं गोधूलि का बड़ा महत्त्व है; क्योंकि नमाज पढ़ने के लिए दोनों की विशेष जरूरत है! इन दोनों बातों का सूक्ष्म विवेचन करने के लिए मुसलमान ज्योतिषियों ने अक्षांश, देशान्तर-संस्कार तथा चर और उदयास्त का बड़ा सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन किया। हिन्दुओं का मुहूर्त्त-शास्त्र मुस्लिम ज्योतिष में गृहीत हुआ है और अरबों का ताजक शास्त्र और रमल-विद्या संस्कृत में सम्मानपूर्ण स्थान पा सकी है! इन शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द अरबी भाषा के हैं। ताजक नीलकण्ठी के प्रसिद्ध सोलह योगों के नाम सीधे अरबी से लिये गये हैं। इसराफ, इकबाल, मणाऊं (मनअ) आदि शब्द संस्कृत के नहीं, अरबी के हैं। चिकित्सा के ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। यूनानी चिकित्सा-पद्धति के साथ भारतीय पद्धति के मिश्रण से एक नयी चिकित्सा-पद्धति हकीमी का जन्म हुआ, जो हिन्दुओं और मुसलमानों की प्रतिभा के मिलन का बड़ा सुन्दर फल है। इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र

में हिन्दू और मुसलमान झिझक और संकोच छोड़कर मिले हैं। मुसलमान बादशाहों ने सौर वर्षों के साथ हिजरी संवत् का सामंजस्य स्थापित करके नये संवत् चलाये थे, जो हिन्दुओं के राष्ट्रीय संवत् बन गये हैं। फसली सन्, विलायती सन्, बंगाब्द आदि ऐसे ही सन् हैं। वस्तुत: इस क्षेत्र का मिलन जितना ठोस हुआ है, उतना किसी क्षेत्र का भी नहीं। शायद इतिहास से हमें यह सीखना अभी बाकी है कि साम्प्रदायिक मिलन की भूमि वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। इसी को उत्तेजित करना वांछनीय है।

भारतीय मनीषा ने कला, धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में नाना भाव से महत्त्वपूर्ण फल पाये हैं और भविष्य में भी महत्त्वपूर्ण फल पाने की योग्यता का परिचय वह दे चुकी है। परन्तु नाना कारणों से समूची जनता एक ही धरातल पर नहीं है और सबका मुख भी एक ही ओर नहीं है। जल्दी में कोई फल पा लेने की आशा से अटकलपच्चू सिद्धान्त कायम कर लेना और उसके आधार पर कार्यक्रम बनाना अभीष्ट सिद्धि में सब समय सहायक नहीं होगा। विकास की नाना सीढ़ियों पर खड़ी जनता के लिए नाना प्रकार के कार्यक्रम आवश्यक होंगे। उद्देश्य की एकता ही इन विविध कार्यक्रमों में एकता ला सकती है; परन्तु इतना निश्चित है कि जब तक हमारे सामने उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो जाता तब तक कोई भी कार्य कितनी भी व्यापक शुभेच्छा के साथ क्यों न आरम्भ किया जाय, वह फलदायक नहीं होगा। बहुत-से लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता को या हिन्दू-संघटन को ही लक्ष्य मानकर उपाय सोचने लगते हैं। वस्तुत: हिन्दू-मुस्लिम एकता भी साधन है, साध्य नहीं। साध्य है मनुष्य को पशु-सामान्य स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर 'मनुष्यता' के आसन पर बैठाना। हिन्दू और मुस्लिम अगर मिलकर संसार में लूट-खसोट मचाने के लिए साम्राज्य-स्थापन करने निकल पड़ें तो उस हिन्दू-मुस्लिम मिलन से मनुष्यता काँप उठेगी; परन्तु हिन्दू-मुस्लिम-मिलन का उद्देश्य है मनुष्य को दासता, जड़िमा, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना; मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थ और अहमिका की दुनिया से ऊपर उठाकर सत्य, न्याय और औदार्य की दुनिया में ले जाना; मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को हटाकर परस्पर सहयोगिता के पवित्र बन्धन में बाँधना। मनुष्य का सामूहिक कल्याण ही हमारा लक्ष्य हो सकता है। वही मनुष्य का सर्वोत्तम प्राप्य है। आर्य, द्रविड़, शक, नाग, आभीर आदि जातियों के सैकड़ों वर्ष के संघर्ष के बाद हिन्दू दृष्टिकोण बना है। नये सिरे से भारतीय दृष्टिकोण बनाने के लिए इतने ही लम्बे अर्से की जरूरत नहीं है। आज हम इतिहास को अधिक यथार्थ ढंग से समझ सकते हैं और तदनुकूल अपने विकास की योजना बना सकते हैं। धैर्य हमें कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इतिहास-विधाता के इंगित समझकर ही हम अपनी योजना बनायें तो सफलता की आशा कर सकते हैं।

18

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदु:खकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि हम लोग एक कठिन समय के भीतर से गुजर रहे हैं। आज नाना भाँति के संकीर्ण स्वार्थों ने मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा बना दिया है कि जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य के हित की बात सोचना असम्भव हो गया है। ऐसा लग रहा है कि किसी विकट दुर्भाग्य के इंगित पर दलगत स्वार्थ-प्रेम ने मनुष्यता को दबोच लिया है। दुनिया छोटे-छोटे संकीर्ण स्वार्थों के आधार पर अनेक दलों में विभक्त हो गयी है। अपने दल के बाहर का आदमी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। उसके रोने-गाने तक पर असदुद्देश्य का आरोप किया जाता है। उसके तप और सत्यनिष्ठा का मजाक उड़ाया जाता है। उसके प्रत्येक त्याग और बलिदान के कार्य में भी 'चाल' का सन्धान पाया जाता है और अपने-अपने दलों में ऐसा करने वाला सफल नेता भी मान लिया जाता है, परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा करने वाला आदमी सबसे पहले अपना ही अहित करता है। बड़े-बड़े राष्ट्रनायक जब अपनी विराट् अनुचरवाहिनी के साथ इस प्रकार का गन्दा प्रचार करते हैं, तो ऊपर-ऊपर से चाहे जितनी भी सफलता उनके पक्ष में आती हुई क्यों न दिखायी दे, इतिहास-विधाता का निष्ठुर नियम-प्रवाह भीतर-ही-भीतर उनके स्वार्थों का उन्मूलन करता रहता है। इतिहास शक्तिशाली व्यक्तियों और राष्ट्रों की चिताभूमि को कुचलता हुआ आगे बढ़ रहा है, फिर भी गन्दे तरीके सुधारे नहीं गये हैं, बल्कि उनको और भी कौशलपूर्ण और प्रभावशाली बनाया जाता रहा है। जो लोग द्रष्टा हैं, वे इस गलती को समझते हैं; पर उनकी बात मदमत्त व्यक्तियों की ऊँची गद्दियों तक नहीं पहुँच पाती। संसार में अच्छी बात कहने वालों की कमी नहीं है, परन्तु मनुष्य के सामाजिक संगठन में ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है, जो मनुष्य को अच्छी बात सुनने और समझने से रोक रहा है। इसीलिए आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाय; बल्कि यह है कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाय।

इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्पनाविलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना परमावश्यक है, जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएँ यह कार्य कर सकती हैं, सम्पूर्ण जन-समाज को उत्तम साहित्य सुनाने का माध्यम बना सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा

की मात्रा बहुत ही कम है। जिन देशों में शिक्षा की समस्या हल हो चुकी है, उनके साहित्यिकों की अपेक्षा यहाँ के साहित्यिकों की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भण्डार को भरने का व्रत लिया है, उसका महत्त्व और भी अधिक है। वह भारतवर्ष के केन्द्रीय प्रदेशों की भाषा है, कई करोड़ आदमियों की ज्ञानपिपासा उसे शान्त करनी है। इसीलिए उसे सम्पूर्ण ज्ञान-विकास का वाहन बनाना है।

हम लोग जब हिन्दी की 'सेवा' करने की बात सोचते हैं, तो प्राय: भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा, जिसके विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम हिन्दी है। मनुष्य ही बड़ी चीज है, भाषा उसी की सेवा के लिए है। साहित्य-सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने-आपके लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को रोग-शोक, दारिद्र्य, अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूँ कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को बदल सकेंगे।

परन्तु हमें सावधानी से सोचना होगा कि हिन्दी बोलने वाला जन-समुदाय क्या वस्तु है और वास्तव में वह परिस्थिति क्या है, जिसे हम बदलना चाहते हैं। काल्पनिक प्रेत को घूँसा मारना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नगरों और गाँवों में फैला हुआ, सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त, अशिक्षा, दारिद्र्य और रोग से पीड़ित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित है। भाषा और साहित्य की समस्या वस्तुत: उन्हीं की समस्या है। क्यों ये इतने दीन-दलित हैं? शताब्दियों की सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामी के भार से दबे हुए ये मनुष्य ही भाषा के प्रश्न हैं और संस्कृति तथा साहित्य की कसौटी हैं! जब कभी आप किसी विकट प्रश्न के समाधान का प्रयत्न कर रहे हों तो इन्हें सीधे देखें। अमरीका में या जापान में ये समस्याएँ कैसे हल हुई हैं, यह कम सोचें; किन्तु असल में ये हैं क्या और किस या किन कारणों से ये ऐसे हो गये हैं, इसी को अधिक सोचें। बड़े-बड़े विचारकों ने इस देश के जन-समुदाय के अध्ययन का प्रयत्न किया है, अब भी कर रहे हैं; पर ये अध्ययन या तो इन्हें अच्छी प्रजा बनाने के उद्देश्य से किये गये हैं या वैज्ञानिक कुतूहल-निवारण के उद्देश्य से। इनको इस दृष्टि से देखना अभी बाकी है कि वे मनुष्य कैसे बनाये जायें। हमारी भाषा, हमारा साहित्य, हमारी राजनीति—सबकुछ का उद्देश्य यही हो सकता है कि इनको दुर्गतियों से बचाकर किस प्रकार मनुष्यता के आसन पर बैठाया जाय।

हमारा यह देश जाति-भेद का है। करोड़ों मनुष्य अकारण अपमान के शिकार हैं। निरन्तर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन में हीनता की गाँठ पड़ गयी है। यह गाँठ जब तक नहीं निकल जाती, तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नहीं रह सकती। कर्म का फल मिलता ही है। उससे बचने का उपाय नहीं है। जिन लोगों को अकारण अपमान

के बन्धन में डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे संसार में हमारे अपमान के कारण बने हैं।

हमें सावधानी से उनकी वर्त्तमान अवस्था का कारण खोजना होगा। ये अनादिकाल से हीन समझे जाते रहे हैं। नाना प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारण-परम्परा के भीतर से गुजरकर भारतवर्ष का सैकड़ों जातियों वाला समाज तैयार हुआ है। इस शतच्छिद्र कलश में आध्यात्मिक रस टिक नहीं सकता। आजकल हम लोग हिन्दु-मुसलमानों की मिलन-समस्या से बुरी तरह चिन्तित हैं। निस्सन्देह यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस महान् प्रश्न ने हमारे समस्त जीवन को गम्भीरतापूर्वक विचारने के लिए चुनौती दी है। हम अपनी भाषा के क्षेत्र में भी इस कठिन समस्या से हतबुद्धि हो रहे हैं। हमारे बड़े-बड़े विचारकों ने प्रत्येक क्षेत्र में सुलह का व्रत लिया है; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इससे भी कठोर समस्या का सामना हमें हिन्दू-हिन्दू-मिलन के लिए ही करना है। अशान्ति के चिह्न अभी से प्रकट होने लगे हैं। जब हम भाषा या साहित्य-विषयक किसी प्रश्न का समाधान करने बैठें, तो केवल वर्तमान पर दृष्टि निबद्ध रखने से हम धोखा खा सकते हैं। मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घ-दर्शिता का गर्व नहीं है, लेकिन जो कुछ अनुभव करता हूँ, उसे ईमानदारी से प्रकट करने से शायद कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से ये बातें कह रहा हूँ। सैकड़ों व्यर्थ कल्पनाओं की भाँति ये अनन्त वायुमण्डल में विलीन हो जायेंगी। मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों में आत्म-चेतना का संचार होता जायेगा, त्यों-तयों हिन्दू-समाज की भीतरी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जायेंगी। राजनीतिक बन्धनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बन्धन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो-सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में।

कवि ने बहुत पहले सावधान किया है, "जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है, वह तुम्हें नीचे से जकड़कर बाँध लेगा; जिसे पीछे डाल रखा है, वह पीछे खींचेगा; अज्ञान के अन्धकार की आड़ में जिसे तुमने ढक रखा है, वह तुम्हारे समस्त मंगल को ढककर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। हे मेरे दुर्भाग्यग्रस्त देश! अपमान में तुम्हें समस्त अपमानितों के समान होना पड़ेगा।" (गीतांजलि)

शताब्दियों के विकट अपमान की प्रतिक्रिया कठोर होगी। उसके लिए हमें तैयार होना होगा। मुझे ऐसा लगता है कि जब भाषा और साहित्य के मसले पर विचार किया जाता है तो इस तथ्य को बिल्कुल भुला दिया जाता है। हिन्दुओं की अपनी भीतरी समस्याएँ भी हैं और उन भीतरी समस्याओं के लिए जो विचार-विनिमय हुए हैं या हो रहे हें, वे नाना कारणों से संस्कृत-साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। वे किसी के प्रति घृणा या अदूरदर्शिता के कारण नहीं हुए हैं। छोटी कही जाने वाली जातियों में ऊपर उठने की आकांक्षा स्वाभाविक है और उसके लिए उनका संस्कृत-साहित्य की ओर झुकना भी अस्वाभाविक नहीं है। यदि संस्कृत-बहुल

भाषा के व्यवहार से और समस्त जातियों के ब्राह्मण या क्षत्रिय कहे जाने से सात करोड़ आदमियों में अपने को हीन समझने की मनोवृत्ति कुछ भी कम होती है, तो ऐसा करना वांछनीय है या नहीं, यह मैं देश के नेताओं के विचारने के लिए छोड़ देता हूँ।

एक जमाना था जब भाषा-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है, परन्तु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया। देखा गया है कि ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषा-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा सिद्ध हुआ है। वर्तमान हिन्दू-समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियाँ हैं, जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी हैं और आर्यभाषा बोलती हैं। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तर-विभाग स्वीकार किया है कि निम्न श्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊँचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फिरके के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा, जहाँ आर्य-भाषा—संस्कृत श्रेणी की भाषा—बोलने वाले किसी जन-समुदाय ने अन्य से अपनी भाषा बदली हो, यहाँ तक कि आर्य-भाषा की एक बोली के बोलने वालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है।

स्पष्ट है कि इस देश में संस्कृत-प्राधान्य कोई नयी घटना नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि इस भाषा का सहारा लेकर जातियाँ ऊपर उठी हैं। मैं केवल उन तथ्यों को आपके सामने रख रहा हूँ, जिनके आधार पर मेरी यह धारणा बनी है कि इस देश के करोड़ों मनुष्यों में आत्म-चेतना भरने का काम बहुत दिन से संस्कृत भाषा करती आयी है और आगे भी करती रहेगी, ऐसी सम्भावना है। यह न समझिए कि जो संस्कृत-बहुल भाषा का व्यवहार कर रहे हैं, वे किसी सम्प्रदाय के प्रति द्वेषवश या घृणावश करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी बेतुकी बातों पर भी आसनी से विश्वास कर लिया जाता है।

दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित इन मनुष्यों को हमें ज्ञान देना है। शताब्दियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों में हमें आत्म-गरिमा का संचार करना है। अकारण अपमानित इन मूक नर-कंकालों को हमें वाणी देनी है। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता और मूकता से इनका उद्धार करना है। साहित्य का यही काम है।

इससे छोटे उद्देश्य को मैं विशेष बहुमान नहीं देता। आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिए। यदि इनको मनुष्यता के ऊँचे आसन पर आप नहीं बैठा सकते तो साहित्यिक भी नहीं कहे जा सकते, और यह कहना ही आवश्यक है कि स्वयं मनुष्य बने बिना, स्वयं छोटे-छोटे तुच्छ विवादों से ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता है। साहित्य के साधकों को मनुष्य की सेवा करनी है तो देवता बनना होगा:

नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।

शायद मेरी ही भाँति आप भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इस बहुधाविभक्त जन-समुदाय को सम्बद्ध बनाना है। यदि यह बात सत्य है तो मैं समझता हूँ, अभी हमने साहित्य का आरम्भ ही नहीं किया है। हिन्दी में कितने जन-समूहों के परिचायक ग्रन्थ हमने लिखे हैं? इस विशाल मानव-समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं? इनके जीवन को सुखमय बनाने के साधनों, इनकी भूमि, इनके पशु, इनके विनोद-सहचर, इनके पेशे, इनके विश्वास, इनकी नयी-नयी मनोवृत्तियों का हमने क्या अध्ययन प्रस्तुत किया है? कहाँ है वह सहानुभूति और दर्द का प्रमाण, जिसे आप गणदेवता के सामने रख सकेंगे? हिन्दी की उन्नति का अर्थ उसके बोलने और समझने वालों की उन्नति है।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक-परम्परा अत्यन्त दीर्घ, धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है, उस सबका प्रयोग इस देश में सफलता-पूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारी प्राचीन चिन्तनराशि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पाली और प्राकृत की बढ़िया पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं, उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य भी लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव-समाज का दुर्भाग्य है, जो भाषा के जरिये ही ज्ञान-अर्जन करना चाहता है या करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्यिक सहज ही उन सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने से बच जाता, जो आज सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रहे हैं। विभिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचार इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते हैं।

इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से, कभी जातिगत और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी जैसे हैं, उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बना रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है, वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रमाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रन्थों को हमें सिर्फ इसलिए नहीं भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पण्डितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए ; परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनके प्रति उनका जो सम्मान है, उसे अंग्रेजी के 'म्युजियम इण्टरेस्ट' शब्द से भी समझाया जा सकता है। नुमाइश में रखी हुई चीजों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु निश्चित जानते हैं

कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुगल सम्राट् का चोगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम उसकी प्रशंसा चाहे जितनी करें, पर हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं कर सकते। किसी मुगल सम्राट् का चोगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम उसकी प्रशंसा चाहे जितनी करें, पर हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देशवासियों के लिए प्रदर्शिनी की वस्तु नहीं हैं, वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उनकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसलिए हमें इन ग्रन्थों का अपने ढंग से सम्पादन करके प्रकाशन करना है। इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करने हैं, जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असम्बद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख भी लिये गये हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्षों के दीर्घकाल में और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव-समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है। उसका साधन गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिन्दी-माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। उस तपस्या के लिए संयम तथा आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर गम्भीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिन्दी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित हैं।

महान् कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिए। हिन्दी का साहित्य-सृजन सचमुच महान् कार्य है, क्योंकि उससे करोड़ों का भला होना है। हम आजकल प्रायः गर्वपूर्वक कहा करते हैं कि हिन्दी बोलने वालों की संख्या भारतवर्ष में सबसे अधिक है। मैं समझता हूँ यह बात चिन्ता की है, क्योंकि हिन्दी बोलने वाले जन-समूह की मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक भूख मिटाने का काम सहज नहीं है।

भारतवर्ष के पड़ोसी देशों में आजकल हिन्दी-साहित्य पढ़ने और समझने की तीव्र लालसा जाग्रत हुई है। चीन से, मलय से, सुमात्रा से, जावा से, समस्त ऐशिया से माँग आ रही है। ऐशिया के देश अब अंग्रेजी पुस्तकों में प्राप्त सूचनाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे देशी दृष्टि से देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य खोजने लगे हैं। आगे यह जिज्ञासा और भी तीव्र होगी। मुझे चिन्ता होती है कि क्या हम अपने को इस उठती हुई श्रद्धा के उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे? जिस दिन इतिहास-विधाता हमें ठेलकर विश्व-जनता के दरबार में ला पटकेगा, उस दिन तक क्या हम इतना भी निश्चय कर सके होंगे कि हमारी भाषा कैसी होगी, उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों का अनुपात क्या होगा और शब्दों के 'शुद्ध' और 'गैर-शुद्ध' उच्चारणों में से कौन-सा अपनाया जायगा?

समूचे जन-समूह में भाषा और भाव की एकता और सौहार्द्र का होना अच्छा है। इसके लिए तर्कशास्त्रियों की नहीं, ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो समस्त बाधाओं और विघ्नों को शिरसा स्वीकार करके काम करने में जुट जाते हैं। वे ही लोग साहित्य का भी निर्माण करते हैं और इतिहास का भी। आज काम करना बड़ी बात है। इस

देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य हैं, संस्कृत है, फारसी है—विरोधों और संघर्षों की विराट वाहिनी है; पर सबके ऊपर मनुष्य है—विरोधों को दिन-रात याद करते रहने की अपेक्षा अपनी शक्ति का सम्बल लेकर उसकी सेवा में जुट जाना अच्छा है। जो भी भाषा आपके पास है, उससे बस मनुष्य को ऊपर उठाने का काम शुरू कर दीजिए। आपका उद्देश्य आपकी भाषा बना देगा।

अच्छी बात करने वालों की कमी इस देश में कभी नहीं रही है। आज भी बहुत ईमानदारी और सचाई के साथ अच्छी बात करने वाले आदमी इस देश में कम नहीं हैं। उन्होंने प्रेम और भ्रातृभाव का मन्त्र बताया है। अनादिकाल से महापुरुषों ने एक और सौहार्द्र का सन्देश सुनाया है। कहते हैं, व्यासदेव ने अन्तिम जीवन में निराश होकर कहा था कि 'मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि धर्म ही प्रधान वस्तु है, उसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, पर मेरी कोई सुन नहीं रहा है':

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यताम् ॥

ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि समाज के ऐतिहासिक विकास, आर्थिक संयोजन और सामाजिक संगठन के मूल में ही कुछ ऐसी गलती रह गयी है कि एक दल जिसे धर्म समझता है, दूसरा उसे नहीं समझ पाता। इस वैषम्य को ध्यान में रखकर ही प्रेम और सौहार्द्र का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। दही में जितना भी दूध डालिए, दही होता जायगा। शंकाशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।

मेरी अल्प बुद्धि में तो यही सूझता है कि समाज के नाना स्तरों के लिए अलग-अलग ढंग की भाषा होगी। नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भाँति के प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामंजस्य एक ही बात से होगा—मनुष्य का हित।

भारत के हजारों गाँवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई यह जनता ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है। उसका कल्याण ही साध्य है, बाकी सबकुछ साधन है—संस्कृत भी और फारसी भी, व्याकरण भी और छन्द भी, साहित्य भी और विज्ञान भी, धर्म भी और ईमान भी। हमारे समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य यही मनुष्य है। उसको वर्त्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य में आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते हैं। सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है। नारद ने शुकदेव से कहा था कि 'सत्य बोलना अच्छा है, पर हित बोलना और भी अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है, जो भूतमात्र के आत्यन्तिक कल्याण का हेतु हो':

सत्यस्य वचनं श्रेय: सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यंतमेतत् सत्यं मतं मम ॥

यही सर्वभूत का आत्यन्तिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य है। जो साहित्य केवल

कल्पना-विलास है, जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है, वह बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, इसे पाना ही कम तप का फल नहीं है, पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।

इधर कुछ ऐसी हवा बही है कि हर सस्ती चीज को साहित्य का वाहन माना जाने लगा है। इस प्रवृत्ति को 'वास्तविकता' के गलत नाम से पुकारा जाने लगा है। तरह-तरह की दलील देकर यह बताने का प्रयत्न किया जा रहा है कि मनुष्य की लालसोन्मुख वृत्तियाँ ही साहित्य के उपयुक्त वाहन हैं। मुझे किसी मनोरोग के विपक्ष में या पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु-सामान्य धरातल के ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है। मैं उसी को सस्ती चीज कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिए किसी प्रकार के संयम या तप की जरूरत नहीं होती। धूल में लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नहीं होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है। और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि यदि कोई नि:संकोच धूल में लोट पड़े तो इसे हम बहुत बड़ा पुरुषार्थ नहीं कह सकते। हम इस बात को डरने योग्य भी नहीं मानेंगे; परन्तु यदि दस-पाँच भले आदमी ऊँचे गले से यही कहना शुरु कर दें कि धूल में लोटना ही उस्तादी है तो थोड़ा डरना आवश्यक हो जाता है। भय का कारण इसका सस्तापन है। मनुष्य में बहुत-सी आदिम मनोवृत्तियाँ हैं, जो ज़रा-सा सहारा पाते ही झनझना उठती हैं। अगर उनको भी साहित्य-साधना का बड़ा आदर्श कहा जाने लगे तो उसे मानने और पालन करने वालों की कमी नहीं रहेगी। ऐसी बातों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है कि मानो यह कोई साहस और वीरता का काम है।

पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जाते हैं। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नहीं है। आदिम युग में मनुष्य की जो वृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल थीं, वे निश्चय ही अब भी हैं और प्रबल भी हैं; परन्तु मनुष्य ने अपनी तपस्या से उनको अपने वश में किया है और वश में करने के कारण वह उनको सुन्दर बना सका है। मनुष्य के रंगमंच पर आने के पहले प्रकृति लुढ़कती-पुढ़कती चली आ रही थी। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववर्त्ती कार्य का परिणाम है। संसार की कार्य-कारण-परम्परा में कहीं फाँक नहीं थी। जो वस्तु जैसी होने को है, वह वैसी होगी। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस नीरन्ध्र ठोस कार्य-कारण-परम्परा में एक फाँक का आविष्कार किया। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने से उसने इन्कार कर दिया। उसे उसने अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। सो, मनुष्य की पूर्ववर्त्ती सृष्टि किसी प्रकार बनती जा रही थी, मनुष्य ने उसे अपने अनुकूल बनाना चाहा—यहीं मनुष्य पशु से अलग हो गया। वह पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा।

बार-बार उसे उसी धरातल की ओर उन्मुख करना प्रगति नहीं, यह पीछे लौटने का काम है। मैं मानता हूँ कि न तो कभी ऐसा समय रहा है, जब लालसा को उत्तेजना देने वाला साहित्य न लिखा गया हो और न कोई ऐसा देश है, जहाँ ऐसी बात न लिखी गयी हो; परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य सामूहिक रूप से इस गलती को महसूस करेगा और त्याग देगा। यह ठीक है कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, पर यह और भी ठीक है कि मनुष्य बराबर गलतियों पर विजय पाता आया है। लालसा को उत्तेजन देने वाला साहित्य उसकी गलती है। एक-न-एक दिन वह इस पर अवश्य विजय पायेगा।

सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसके साथ समझौता नहीं हो सकता। साहित्य के चरम सत्य को पाने के लिए भी उसका पूरा-पूरा मूल्य चुकाना ही समीचीन है। जो लोग पद-पद पर सहज और सीधे साधनों की दुहाई दिया करते हैं, शायद किसी बड़े लक्ष्य की बात नहीं सोचते। मनुष्य को उसके उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए उसके प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वृत्तियों के साथ सुलह करने से काम नहीं चलेगा। कठोर संयम और त्याग द्वारा ही उसे बड़ा बनाया जा सकेगा। जो बात एक क्षेत्र में सत्य है, वह सभी क्षेत्रों में सत्य है—साहित्य में, भाषा में, आचार-विचार में, सर्वत्र। भाषा को ही लीजिए। मनुष्य अपने आहार और निद्रा के साधनों को जुटाने के लिए जिस भाषा का व्यवहार करता है, वह उसकी अनायासलब्ध भाषा है; परन्तु यदि उसे इस धरातल से ऊपर उठाना है तो उतने से काम नहीं चलेगा। सहज भाषा आवश्यक है। पर सहज भाषा का मतलब है सहज ही महान् बनाने वाली भाषा, रास्ते में बटोरकर संग्रह की हुई भाषा नहीं।

सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्त्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का अर्थ स्थिर नहीं किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा, जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है!

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया, वे सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषा-शास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनायी जा सकती, कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने की क्षमता थी। शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नहीं मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर महासहज के समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने को नि:शेष भाव से दे नहीं सका, वह दाता नहीं हो सकता। आपमें अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी, फिर उसमें देने योग्य

पदार्थ भरे जायेंगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो। इसके लिए तप की जरूरत है, साधना की जरूरत है, अपने को नि:शेष भाव से दान कर देने की जरूरत है।

हिन्दी साधारण जनता की भाषा है। जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह अपने को जनता के काम की चीज बनाये रहेगी, जनचित्त में आत्म-बल का संचार करती रहेगी, तब तक उसे किसी से डर नहीं है। वह अपने आपकी भीतरी अपराजेय शक्ति के बल पर बड़ी हुई है, लोक-सेवा के महान् व्रत के कारण बड़ी हुई है और यदि अपनी मूल-शक्ति के स्रोत को भूल नहीं गयी तो निस्सन्देह अधिकाधिक शक्तिशाली होती जायेगी। उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। वह विरोधों और संघर्षों के बीच ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की कोशिश की गयी थी, पर वह मरी नहीं है, क्योंकि उसकी जीवनी-शक्ति का अक्षय स्रोत जनचित्त है। वह किसी राजशक्ति की उँगली पकड़कर यात्रा तय करने वाली भाषा नहीं है, अपने-आपकी भीतरी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन अधिकार करने वाली अद्वितीय भाषा है।

शायद ही संसार में कोई ऐसी भाषा हो, जिसकी उन्नति में पद-पद पर इतनी बाधा पहुँचाई गयी हो, फिर भी जो इस प्रकार अपार शक्ति संचय कर सकी हो। आज वह सैकड़ों 'प्लेटफार्मों' से, कोड़ियों विद्यालयों से और दर्जनों प्रेसों से नित्य मुखरित होने वाली परमशक्ति-शालिनी भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय में है। वह करोड़ों नर-नारियों की आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है। हिन्दी-सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है। इसका अवसर मिलना सौभाग्य की बात है।

वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जयमात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है। आप इससे सीधा सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं। यह जो प्रत्यक्ष मनुष्य का पढ़ना है, वही बड़ी बात है। हमारी शिक्षा का अधिक भाग जिन सब दृष्टान्तों का आश्रय लेता है, वे हमारे सामने नहीं आते। हमारा इतिहास पढ़ना तब तक व्यर्थ है, जब तक हम उसे इस जीवन्त मानव-प्रवाह के साथ एक करके न देख सकें। हमारे देश का इतिहास—यदि वह सचमुच ही हमारे देश का है—आज भी निश्चय ही हमारे घरों में, गाँवों में, जातियों में, खँडहरों में और इस देश के जर्रे-जर्रे में अपना चिह्न छोड़ता जा रहा है। जब तक देश के इन प्रत्येक कणों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित होता, तब तक हम इतिहास का वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकेंगे? हममें से जो कोई भी अपने को शिक्षित समझता हो, उसे अपनी उच्च अट्टालिका से नीचे उतरकर अपने देश के इर्द-गिर्द फैले हुए विशाल जन-समूह, विस्तृत भूखण्ड और सजीव चिन्ता-प्रवाह को ही प्रधान पाठ्य-पुस्तक बनाना होगा। पुस्तकें इसी महाग्रन्थ को समझाने का साधन मानी जानी चाहिए। नोटों और कुंजियों

को उत्पन्न करने वाली मनोवृत्ति का निर्दयतापूर्वक दमन कर देना चाहिए। हम लोग नतृत्त्व के ग्रन्थ न पढ़ते हों सो बात नहीं है, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रन्थ पढ़ने के कारण हमारे घरों के निकट जो चमार, धीवर, कोरी, कुम्हार लोग रहते हैं, उनके पूरे परिचय पाने के लिए हमारे हृदयों में ज़रा-भी उत्सुकता नहीं उत्पन्न होती, तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि पुस्तकों के सम्बन्ध में हमें कितना अन्धविश्वास हो गया है, पुस्तकों को हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें वस्तुत: जिनकी छाया हैं, उनको कितना तुच्छ मानते हैं। यह ढंग गलत है। इसमें सुधार होना चाहिए। विद्या के क्षेत्र में 'सेकण्ड हैण्ड' ज्ञान की प्रधानता स्थापित होना वांछनीय नहीं। दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसे ही ज्ञान की प्रधानता स्थापित हो गयी है। हमें यदि सचमुच कुछ नया करना है तो बड़े विकट प्रयास करने पड़ेंगे। समूचे देश के मस्तिष्क में जो जड़-संस्कार पैदा कर दिये गये उनसे जूझना पड़ेगा। इसका समर्थन तभी हो सकता है, जब हम दृढ़ प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर हों।

आपमें से अधिकांश का मार्ग शायद मातृभाषा और उसके साहित्य द्वारा देश की सेवा करना हो। यह बड़ा उत्तम मार्ग है; परन्तु हमें अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है कि साहित्य-सेवा या मातृभाषा की सेवा का क्या अर्थ है। किसे सामने रखकर आप साहित्य लिखने जा रहे हैं? आपके वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता कौन है? हिन्दी भाषा कोई देवी-देवता की मूर्त्ति का नाम नहीं है। हिन्दी की सेवा करने का अर्थ हिन्दी की प्रतिमा बनाकर पूजना नहीं है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इसका अर्थ है—हिन्दी के माध्यम द्वारा समझनेवाली विशाल जनता की सेवा। कभी-कभी हम लोग इस भाषा के प्रति होने वाले अन्यायों से विक्षुब्ध होकर गलत ढंग के स्वभाषा-प्रेम का परिचय देते हैं। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने साहित्य से प्रेम होना बुरी बात नहीं है, पर जो प्रेम ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होता है, वही प्रेम अच्छा है। केवल ज्ञान बोझ है, केवल श्रद्धा अन्धा बना देती है। हिन्दी के प्रति जो हमारा प्रेम है, वह भी ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होना चाहिए। हमें ठीक-ठीक समझना चाहिए कि हिन्दी की शक्ति कहाँ है। हिन्दी इसलिए बड़ी नहीं है कि हममें से कुछ लोग इस भाषा में कहानी या कविता लिख लेते हैं या सभा-मंचों पर बोल लेते हैं। नहीं, वह इसलिए बड़ी है कि कोटि-कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने में यह भाषा इस देश में सबसे बड़ा साधन हो सकती है। हमारे पूर्वजों ने दीर्घकाल की तपस्या और मनन से जो ज्ञानराशि संचित की है, उसे सुरक्षित रखने का यह सबसे मजबूत पात्र है, अकारण और सकारण शोषित और पोषित, मूढ़, निर्वाक् जनता तक आशा और उत्साह का सन्देश इसी जीवन्त और समर्थ भाषा के द्वारा पहुँचाया जा सकता है। यदि देश में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को हमें जन-साधारण तक पहुँचाना है तो इसी भाषा का सहारा लेकर हम यह काम कर सकते हैं। हिन्दी इन्हीं सम्भावनाओं के कारण बड़ी है। यदि वह यह कार्य नहीं कर सकती तो 'हिन्दी-हिन्दी' चिल्लाना व्यर्थ है। यदि वह यह काम कर सकती है तो उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यदि वह इन महान् उद्देश्यों के अनुकूल है तो फिर वह इस देश में

हिमालय की भाँति अचल होकर रहेगी। हिमालय की ही भाँति उन्नत, उतनी ही महान् हिन्दी जनता की भाषा है। जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह जनता के चित्त में आत्मबल संचारित करती रहेगी, उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाती रहेगी, तब तक उसका जीवन सार्थक है। जो लोग इस भाषा और इसके साहित्य की सेवा करने का व्रत करने जा रहे हों, उन्हें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए।

भारतवर्ष क्या है? अनादिकाल से नाना जातियाँ अपने नाना भाँति के संस्कार, रीति-रस्म आदि लेकर इस देश में आती रही हैं। यहाँ भी अनेक प्रकार के मानवीय समूह विद्यमान रहे हैं। ये जातियाँ कुछ देर तक झगड़ती रही हैं और फिर रगड़-झगड़कर, ले-देकर पास-ही-पास बस गयी हैं—भाइयों की तरह! इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय यह भारतवर्ष है। विदेशी पराधीनता ने इसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचायी है। उसका बाह्य रूप विचित्र-सा दिखायी दे रहा है। इसी वैचित्र्यपूर्ण जन-समूह को आशा और उत्साह का सन्देश देना साहित्य-सेवा का लक्ष्य है। हजारों गाँवों और शहरों में फैली हुई, शताधिक जातियों और उप-जातियों में विभक्त, सभ्यता के नाना स्तरों पर ठिठकी हुई यह जनता ही हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य है। इसका कल्याण ही साध्य है। बाकी सबकुछ साधन है। आपने जो अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त किया है, वह अपने-आपमें अपना अन्त नहीं है। वह साधन है। इसे भाषा के सहारे आपको इस जनता तक पहुँचाना है। इसको निराशा और पस्त-हिम्मती से बचाना आपका कर्त्तव्य है; परन्तु यह कोई सरल काम नहीं है। केवल कुछ अच्छा करने की इच्छामात्र से यह काम नहीं होगा। आज की समस्याएँ बड़ी उलझनदार और जटिल हैं। बिजली की बत्ती मुँह से फूँककर नहीं बुझायी जाती है। यह समझने की जरूरत है कि जो दुर्गति आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उसका वास्तविक कारण क्या है? साहित्य का साधक केवल कल्पना की दुनिया में विचरण करके, केवल 'हाय-हाय' की या 'वाह-वाह' की पुकार करके अपने सामने की कुत्सित कुरूपता को नहीं बदल सकता। हमें उस समूची विद्या को सीखना पड़ेगा, जो विश्व-रहस्य के नये-नये द्वार खोल रही है, जो प्रकृति के समस्त गुप्त भण्डार पर धावा बोलने के लिए बद्ध-परिकर है, जो मनुष्य को असीम सुख और समृद्धि तक ले जा सकती है। फिर हमें उस स्वार्थ-शक्ति को भी समझना है, जो इस विद्या का गलत प्रयोग करने वाले मनुष्य को सर्वत्र लांछित और अपमानित कर रही है। साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिए कुछ खास-खास विषय ही पढ़ने के हैं, वे बड़ी गलती करते हैं। आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नहीं रह सकता।

साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम

सारे बाह्य जगत् को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया बाह्य सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के 'ढूह' में खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सचाई है।

यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका है, तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है, अर्थात् वहाँ सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखायी देता है। और साथ ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं। जबकि हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गन्दगी वर्त्तमान हैं, जबकि हमारे समाज का आधा अंग परदे में ढका हुआ है, जबकि हमारी नब्बे फी-सदी जनता अज्ञान के मलबे के नीचे दबी हुई है, तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं, उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गयी है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ-स्वस्थ नहीं है। साहित्य की साधना तब तक बन्ध्य ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें, जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रखे। अगर यह आकांक्षा जाग्रत हो सकी तो हममें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा, जो उक्त इच्छा की पूर्त्ति की सहायक हैं। अगर यह आकांक्षा जाग्रत नहीं हुई तो कितनी भी विद्या क्यों न पढ़ी हो, वह एक जंजाल मात्र सिद्ध होगी और दुनियादारी और चालाकी का ढकोसला ही बनी रहेगी। जो साहित्यिक निष्ठा के साथ इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा, वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आज तक नहीं रुकी है। भूख होनी चाहिए। एक बार भूख के होने पर खाद्य-सामग्री जुट ही जाती है, पर खाद्य-सामग्री के भरे रहने

पर भूख नहीं लगती है। गरुड़ ने उत्पन्न होते ही कहा, "माँ, बहुत भूख लगती है।" माता विनता घबड़ाकर विलाप करने लगी कि इस प्रचण्ड क्षुधाशाली पुत्र को अन्न कहाँ से दें! पिता कश्यप ने आश्वासन देकर कहा था, "कोई चिन्ता की बात नहीं। महान् पुत्र उत्पन्न हुआ है; क्योंकि उसकी भूख महान् है।" हमारी भाषा को भी इस समय प्रचण्ड साहित्यिक क्षुधावाले महान् पुत्र की आवश्यकता है। जब तक हमारी मातारूपी भाषा के गर्भ से ऐसे कृती पुत्र पैदा नहीं होते, तभी तक वह विनता की तरह कष्ट पा रही है। जिस दिन ऐसे पुत्र पैदा होंगे, उस दिन मातृभाषा धन्य हो जायेगी।

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ब्राह्मण हैं, चाण्डाल हैं, धनी हैं, गरीब हैं—विरुद्ध संस्कारों और विरोधी स्वार्थों की विराट् वाहिनी है। इसमें पद-पद पर गलत समझे जाने का अन्देशा है, प्रतिक्षण विरोधी स्वार्थों के संघर्ष में पिस जाने का डर है, संस्कारों और भावावेशों का शिकार हो जाने का अन्देशा है; परन्तु इन समस्त विरोधों और संघातों से बड़ा और सबको छापकर विराज रहा है मनुष्य। इस मनुष्य की भलाई के लिए आप अपने-आपको नि:शेष भाव से देकर ही सार्थक हो सकते हैं। सारा देश आपका है। भेद और विरोध ऊपरी हैं। भीतर मनुष्य एक हैं। इस एक को दृढ़ता के साथ पहचानने का यत्न कीजिए। जो लोग भेद-भाव को पकड़कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते हैं, वे गलती करते हैं। विरोधी रहे हैं तो उन्हें आगे भी बने ही रहना चाहिए, यह कोई काम की बात नहीं हुई। हमें नये सिरे से सबकुछ गढ़ना है, तोड़ना नहीं है, टूटे को जोड़ना है। भेद-भाव की जयमाला से हम पार नहीं उतर सकते। कबीर ने हैरान होकर कहा था:

कबीर इस संसार को समझाऊँ कै बार ।
पूँछ जु पकड़े भेद का, उतरा चाहै पार ॥

मनुष्य एक है। उसके सुख-दु:ख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र 'आसन पर बैठना ही हमारा कर्त्तव्य है।

19

कबीर : एक विलक्षण व्यक्तित्व

कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच-नीच-भावना मजाक और आक्रमण का विषय थी, दूसरे के लिए मर्यादा

और स्फूर्ति का। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन' (तृण से भी गया-गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति-भेद पर आघात करता था, बाह्यचार और तन्मूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग-मार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था, दूसरों की बहिर्मुखी वृत्ति पर तरस खाता था, नाना प्रकार की पेचीदी बातों से उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज-करिश्में देखकर दाँतों-तले उँगली दबा लें। भक्त जाति-भेद, वर्णाश्रम-व्यवस्था और ऊँच-नीच मर्यादा को शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप-भावना के लिए बार-बार पश्चाताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भवबन्धन से उसे मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिण्ड ही ब्राह्माण्ड था और दूसरे के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था, दूसरा भक्त।

साधारण जनता में इन दोनों से दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक ने श्रद्धालु गृहस्थ के चित्त में शंका का भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धि का मार्ग विघ्न-संकुल है । योग-क्रिया-हीन व्यक्ति की न जाने कौन-सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियों में न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, साधन-मार्ग दुरधिगम्य है, विघ्नों की वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलती से भी एक बार हरि-नाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करने की जरूरत नहीं, विष्णु का तिलक एक बार अगर सिर पर चढ़ गया तो वैकुण्ठ का दरवाजा खुला है, तुलसी की माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोक में स्थान निश्चित है। कलियुग सब युगों से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानस-पाप का कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस-पुण्य का पूरा फल मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है, भय की कोई जरूरत नहीं। योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी। एक ने मुक्ति को मँहगा सौदा बता दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता। योग में गलदश्रु भावुकता का कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद-पद पर भक्त को कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोद्गम की अवस्था में ले आ देती है वह इस क्षेत्र में अपरिचित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प-विकल्प बेकार हैं, संसार मृग-मरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभाग से परे है, सूक्ष्म और स्थूल के अतीत है—यदि वह एक-रस है, सम-रस है, तो फिर रोने से होता क्या

है? अखण्ड-चैतन्य-स्वरूप अमायिक परमपुरुष के सामने यह विलाप क्यों? उस गुणहीन, विकारहीन, दया-माया-हीन की पूजा क्या और स्तुति क्या?[1] निर्ममता और अमायिकता योग की पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने अनुयायी को अक्खड़ बना देता है। कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों में विरासत में पाई थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देखकर करुणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्वजगत् के पाप को अपने ऊपर ले लेने की वाञ्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर तथा और भी शुष्क होकर सुरत और विरत का उपदेश देते थे। संसार में भरमने वालों पर दया कैसी, मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होने वालों को आराम कहाँ, करम की रेख पर मेख न मार सका तो सन्त कैसा—

ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर
खेल चौगान-मैदान माँहीं।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेष-भगवन्त पाहीं॥
भेष-भगवंत की शेष महिमा करे
शेष के सीर पर चरन डारै।
कामदल जीति के कँवलदल सोधि के
ब्रह्म को बेधि के क्रोध मारै॥
पदम-आसन करै पौन परिचै करै
गगन के महल पर मदन जारै।
कहत कबीर कोई सन्त-जन जौहरी
करम की रेख पर मेख मारै॥

—शब्दा०, पृ० 50

परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ाव पर होती है। वे योग के विकट रूपों का अवतरण करते हैं; गगन और पवन की पहेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहज का

1. अविवेक-विवेक-विबोध इति, अविकल्प-विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिषि मानस-सर्वसम:॥
बहुधा श्रुतय: वदन्ति यते, विददातरयं मृगतोयसम:।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसम: किमु रोदिषि मानस-सर्वसम:॥
सविभक्ति-विभक्तिविहीन परम्, अनुकाय-विकाय-विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव: यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में अवधूत-गीता के वचन, पृ० 25

रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैत के सत्त्व की चर्चा करते रहते हैं और अवधू के अज्ञान पर कुटिल हँसी-सी हँसा करते हैं—

अवधू, अच्छरहूँ सों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
गगना-मद्धे जोती झलके, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नीर विनसिगे तारा, निकरि गयौ केहि द्वारा॥
मेरुदंड पर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोई सुमेर पर खाक उड़ानी, कच्चा योग कमाया॥
इँगला बिनसै, पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि की तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी॥
अद्वैत-विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर-जोगी।
अच्छर-लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति-विरोगी॥
कह अरु अकह दुहूँ तें न्यारा, सत्त-असत के पारा।
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव-पारा॥

इसी-भाषा को योगी समझते थे। ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्मम की भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगी से भी तो उलट के उसी शुष्कता और उसी निर्ममता के साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उनमनि तक तो ठीक है, वहाँ तुमने माना कि अक्षर-पुरुष का साक्षात्कार कर लिया, परन्तु फिर? जब समाधि भंग हुई,—जब उनमनि की तारी टूटी, तब? तब तो फिर उसी भवजाल में लौट आये। अब तुम्हारी क्या गति होगी? सो, कबीरदास अवधूत से बात करते समय पूरी अक्खड़ता से काम लेते हैं और अपने व्यक्तित्व को बहुत ऊँचे उठाकर बोलते है, क्योंकि वे अवधू के इस मनोभाव को पहचानते हैं। एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठा ले जाने की छूट दे दी गई तो फिर उससे पार पाना कठिन है। विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला में कबीरदास उस्ताद हैं। गगन और पवन के बल पर आतंक जमाने वाले से यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देने वाला है: 'गगना-पवना दोनों बिनसैं कहँ गया जोग तुम्हारा?'

यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी। वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलटकर सहस्रारचक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे, उस महान् पद को देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेब की गम नहीं है, जहाँ की गगन-गुफा में किसी गैब की चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रात की पहुँच नहीं है, जो प्रेम के प्रकाश का समुद्र है, जो सदानन्द का विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्ति से परे है, जो एक-रस है, ब्रह्म

की छौल में (झूले में) वे निश्चित रूप से झूल चुके थे—

करत कल्लोल दरियाव के बीच में,
ब्रह्म की छौल में हंस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्व की पेंग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।
बेद-कत्तेब की गम्म नाहीं तहाँ,
कहैं कब्बीर कोई रमै सूरा॥
गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना,
उदय और अस्त का नाम नाहीं।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकास के सिन्धु माहीं॥
सदा आनन्द दुख-दंद व्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं,
कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा, पृ० 104

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ में मुराडा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साथी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके—

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारों तासु का, जो चलै हमारे साथ॥

—स० क० सा० 518

वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे। मस्त—जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब-कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये-कराये का लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह मस्त नहीं हो सकता। जो अतीत का चिट्ठा खोले रहता है वह भविष्य का क्रान्तदर्शी नहीं बन सकता। जो इश्क का मतवाला है वह दुनिया के माप-जोख से अपनी सफलता का हिसाब नहीं करता। कबीर जैसे फक्कड़ को दुनिया की होशियारी से क्या वास्ता? ये प्रेम के मतवाले थे मगर अपने को उन दीवानों में नहीं गिनते थे जो माशूक के लिए सर पर कफन बाँधे फिरते हैं, जो बेकरारी की तड़पन में इश्क का चरम फल पाने का भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस

वियोग में होती है जिसमें प्रिय दूर हो,—उसे पाना कठिन हो। पर जहाँ प्यारे से एक क्षण के लिए भी बिछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी? जो गगरी भरी है उसमें छलकन कहाँ? जहाँ द्वैत-भावना ही मिट गई हो उस अजब मस्ती में बेचैनी कहाँ?

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

—शब्दा०, पृ० 16-17

इसीलिए ये फक्कड़राम किसी के धोखे में आने वाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम-राम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रिया का उन्होंने डटकर अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटों के समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशा पर नाक कटा ली थी कि इस बाधा के दूर होते ही स्वर्ग दिखाई देने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलता पर क्या-क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग-लपेट के, बिना झिझक और संकोच के एलान किया—

आसमान का आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी।
तुम आप में आप तहकीक करो,
तुम छोड़ो मन की कल्पना जी।

—क० व०, पृ० 133, पद 87

आसमान अर्थात् गगन-चन्द्र की परम ज्योति। जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम-दमादि का साध्य है वह चरम सत्य नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकार की जड़-समाधि की बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकार को सिद्धि समझने लगता है। परम-पुरुष योग का परम प्रतिपाद्य है, आत्मा-गम्य है, वह आँख-कान का विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायद से दीखने वाली ज्योति जड़ चित्त की कल्पना-मात्र है। वह भी बाह्य है। कबीर ने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया बाह्य है, ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञान के योग व्यर्थ है। केवल पिण्ड में,—तत्रापि गगन-गुफा में या शून्यचक्र में यदि घटघटवासी मिलता है तो कहीं बिसमिल्ला ही गलत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो बाहर का यह सारा विश्वब्रह्माण्ड

मारे लज्जा के पानी-पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफा के बाहर सब-कुछ भगवान् के बाहर है, क्या उसके कण-कण में प्रभु व्याप्त नहीं है, क्या वह व्यर्थ ही जगत् में पड़ा हुआ है? पर अगर इसी की ओर ताकें, यही मान लें कि बाहर की सारी दुनिया में ही वह परम-पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदास ने कितनी ही बार 'कमल-कुआ में ब्रह्मरस' का पान किया था, गगन से झरते हुए अमृतरस का आस्वादन किया था। यह झूठ है कि यह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है बाहर नहीं, वह सारे वाह्य जगत् को व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ-कथा को कहैं—

ऐसा लो, नहिं तैसा लो।
मैं केहि विधि कथौं, गँभीरा लो।
भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै।
बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर - भीतर, सकल निरन्तर।
गुरु - परतापैं दीठा लो।

कबीर की यह घर-फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वास का परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को और अपनी साधना को सन्देह की नजरों से नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी गलती महसूस हुई तो उन्होंने एक क्षण के लिए भी नहीं सोचा कि इस गलती के कारण वे स्वयं हो सकते हैं। उनके मत से गलती बराबर प्रक्रिया में होती थी, मार्ग में होती थी, साधन में होती थी। शायद उनके नाम पर चलने वाले हजारों भजनों में से एक भी हमारे इस कथन के प्रतिवाद में नहीं उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्मनिष्ठा में एक क्षण के लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्म-विश्वास को आश्रय करके ही पनपती है। कबीर के लिए साधना एक विकट संग्राम-स्थली थी, जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिर को उतारकर देने की कला नहीं आती, वह इस मार्ग का राही नहीं बन सकता—

पकरि समसेर मैदान में पैसिये,
देह - परजंत करु जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँ का तहाँ,
आय दरबार में सीस नाई॥
करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन धाई॥
कहै कब्बीर अब नाम सों सुरखरू,

मौज दरबार की भक्ति पाई ॥

—शब्दा०, पृ० 106

कबीर जिस साईं की साधना करते थे वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता था। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था—

साँई सेंत न पाइये, बाताँ मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम सौं, सिर बिन कदै न होय ॥

—स० क० सा० 85-86

रामानन्द की प्रेम-भक्ति का यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्ति के अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हो गये। भगवान् का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीज को पाने की साधना भी बड़ी होनी चाहिए। प्रेम का यह व्यापार कुछ खाला का घर नहीं है कि बात-बात पर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पाने का हकदार है जो पहले सिर उतारकर धरती पर रख दे—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घरमाँहि॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥

—क० ग्रं०, पृ० 69

यह प्रेम किसी खेत में नहीं उप्जता, किसी हाट में नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा, उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह शर्त है सिर उतारकर धरती पर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेम के ऊपर विश्वास नहीं, उस कायर की यहाँ दाल नहीं गलेगी। हरि से मिल जाने पर साहस दिखाने की बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार हैं,—अपने अधिगम्य पर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेम की कुंजी है;—विश्वास, जिसमें संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं।

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाय ॥
सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ॥
भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम ॥

—क० ग्रं०, पृ० 70

कबीरदास भक्त और पतिव्रता को एक कोटि में रखते थे। दोनों का धर्म कठोर है, दोनों की वृत्ति कोमल है, दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंजाल है, दोनों ही

कंचन-पदधर्मी हैं,—बाहर से मृदु, भीतर से कठोर; बाहर से कोमल, भीतर से परुष। सब की सेवा में व्यस्त, पर एक की आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है। सती की सिंदूर-रेखा के बदले काजल नहीं दिया जा सकता और कबीर के नैनों में भी राम रम गया है, दूसरा नहीं रम सकता—

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाई ॥

भक्त की यह प्रार्थना केवल सती को ही शोभ सकती है—

नैना अंतर आव तूँ, ज्यों ही नैन झँपेउँ ।
ना हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ ॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपतां, क्या लागै है मेरा ॥

कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते वह व्यर्थ ही पांडित्य-प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल-भेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है,—इसकी प्रचण्डता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त्त है। यह प्रेम वज्र से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल! इसमें हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

हारौं तो हरि नाम है, जो जीतूँ तो दाव ।
पारब्रह्म सों खेलता, जो सिर जाय तो जाय ॥

स० क० सा० 95-90

इस सरलता और विश्वास के कारण ही जहाँ वे एक स्थान पर भगवान् के निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहाँ दूसरे स्थान पर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं। पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलने का अभिनय नहीं किया, उपालम्भों की झड़ी नहीं लगाई—महान् की महत् मर्यादा को उन्होंने कभी अपनी ससीमता से गँदला नहीं किया। साईं के प्रति उनकी भक्ति अडिग है। वे राम के कुत्ते के रूप में अपना परिचय देते नहीं लजाते। कबीर राम का कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। राम ने ही इस मुतिया के गले में एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है। जब वह तो-तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर-दुर करता है तो बेचारे मुतिया को भागने के सिवा और चारा ही क्या है? कबीरदास कहते हैं कि

भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है। निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ ॥
तो तो कर तो बाहुड़ौं, दुरि-दुरि करै तो जाउँ ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥

—क० ग्रं०, पृ 20

आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन की प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन-सा ढंग पसन्द हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव-सूँ, कैसी रहसी रंग ।

—क० ग्रं० पृ० 20

इस उक्ति को अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमें केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्त को अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है, पर प्रिय की उच्चता और महिमा के प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशंका का कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदास ने 'मुतिया' नाम क्यों पसन्द किया। क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपन का नाम मुतिया था? असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाम में ही कुत्ते की सारी निरीहता मानो दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी-कभी आश्चर्य हो जाता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगन-गुफा का चक्कर लगा लेने के बाद उधर के कोने-कोने से ऐसा परिचित हो गया कि बड़े-से-बड़े अवधूत को ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्परा के जटिल जाल में घुसकर इस सफाई के साथ उसकी ग्रंथियाँ शिथिल कर देता है कि जाल फैलाने वाला ही आश्चर्यभरी मुद्रा से देखता रह जाता है, जो क्षणभर के लिए भी अपने ज्ञान को नहीं भूलना चाहता और जिसकी उक्तियाँ प्रतिपक्ष के ऊपर सीधा आघात करती हैं! परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान् ही विनीत होता है।

कबीर जब 'पंडित' या 'शेख' पर आक्रमण करने को उद्यत होते हैं तो उतने सावधान नहीं होते जितने अवधूत या योगी पर आक्रमण करते समय दिखते हैं। कारण यह है कि 'पंडित' और 'शेख' के ज्ञान-भण्डार को उन्होंने उतनी सूक्ष्मता के साथ नहीं देखा जितनी बारीकी से अवधूत की साधना देखी है। इसीलिए यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पण्डित और शेख को इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितान्त नगण्य जीव हों,—केवल

बाह्याचारों के गड्डर, केवल कुसंस्कारों के गुड्डे। साधारण हिन्दू-गृहस्थ पर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते हैं और इसीलिए लापरवाही भरी एक हँसी उनके अधरों पर मानो खेलती रहती है। मानो वे इन अदने आदमियों को इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिन पर आक्रमण किया जा सके। परन्तु इस लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज-सहज भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंगों की जान है। सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबरदस्त व्यंग-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले सन्तों और योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे—

> ना जाने तेरा साहब कैसा है।
> मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?
> चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
> पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है॥
> अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
> ऊँचा - नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है॥
> चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है।
> कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में धरता है॥
> जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि बहि मरता है।
> सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है॥
> जेहि घर साधू भीख न पावै, भंडुआ खात बतासा है॥
> हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
> कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है॥

—कबीर वच०, पृ० 144

यह भाषा झकझोर देने वाली है, जितनी सादी उतनी ही तेज। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहने वाला अपनी ओर से एकदम निश्चिंत है। अगर वह अपनी ओर से इतना निश्चिंत न होता तो इस तरह का करारा व्यंग्य नहीं कर सकता।

कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रंथि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पाया जाता है। वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं।

कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है; एक जीवन है, क्योंकि वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वास का कृपाण भी।

कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओं द्वारा समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्णरूप से स्वीकृत। वह कुल-परम्परा से ज्ञानार्जन के अयोग्य समझा जाता था। बाहर के प्रलोभन से हो या भीतर के आघात से, वह मुसलमानी राजत्वकाल में मुसलमान धर्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सका था, पर न तो राज-धर्म के ग्रहण कर लेने के कारण उसमें राजकीय गरिमा का संचार ही हुआ था और न प्राचीन हीनता से उद्धार ही। नाम-मात्र की मुसलमान इस जुलाहा जाति के रक्त में प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी मात्रा में वर्तमान था, पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का दरवाजा उसके लिए रूद्ध हो गया था। ये गरीबी में जनमते थे, गरीबी में ही पलते थे और उसी में ही मर जाया करते थे। ऐसे कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति-व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है। कबीरदास इसी समाज के रत्न थे। वे सामाजिक विषमताओं को बौद्धिक, तर्क-विलास को वस्तु न समझते रहे हों, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। सौभाग्यवश उन्हें वे सब युक्तियाँ नहीं मालूम थीं जो इस स्पष्ट ही अनुचित समाज-व्यवस्था को उचित साबित कर सकती हैं। वे उन शास्त्रीय विचारों से सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवन को स्थितिशील (स्टेटिक) देखने में समाज का कल्याण समझते हैं। और भी उनमें आत्मविश्वास परिपूर्ण मात्रा में था। वह जो वाह्याचारों की जीवन्त प्रतिक्रिया, शास्त्रीय विचार की अनभिज्ञता के कारण निर्भीक आक्रमणकारिता और अपनी निर्दोषिता का परिपूर्ण भरोसा है उसने उनके आत्मविश्वास को भी आक्रामक (एग्रेसिव्ह) बना दिया था और उनकी लापरवाही को भी रक्षणात्मक (डिफेन्सिव्ह) बना दिया था। इसीलिए वे सीधी बात को भी ललकारने की भाषा में ही बोलते थे। सारी परिस्थिति का विश्लेषण न कर सकने वाले पंडित इसे अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमण्ड और दम्भ समझकर कुछ आश्वस्त-से हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओं को जानते हैं, उन्हें मालूम है कि करीब-करीब सभी देवताओं और ऋषि-मुनियों के नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्र की विशुद्धता में सन्देह होता है। पर जो लोग पुराणों के तत्त्ववाद के जानकार हैं वे उनमें भी भगवत्लीला का आभास पाते हैं और उन्हें न तो उक्त कथाओं में अविश्वास होता है और न उन मुनियों या देवताओं के चरित्र के विषय में सन्देह। कबीरदास पौराणिक कथाओं के थोड़े-बहुत जानकार थे, पर तत्त्ववाद के कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसलिए उन्होंने दया पर विश्वास करके मुनियों और देवताओं के चरित्र को उसी रूप में स्वीकार किया जिस रूप में लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रबल था और पौराणिक कथाओं ने सुर-नर-मुनि के चरित्रों पर सन्देह करने का अवसर दिया। इसीलिए अत्यन्त सीधी और सहज बात कहते समय भी

उनके आत्मविश्वास का आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना भरनी, सुसमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नरमुनि ओढ़िन ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों के त्यों धर दीनी चदरिया॥

—शब्दा, पृ० 74

इसमें दम्भ का लेश भी नहीं है, घमण्ड का स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकों की सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुण की शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओं ने ओढ़ के मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही बताते हैं और यह भी सच है कि कबीरदास ने उस चादर को मैली नहीं होने दिया। कबीर की अन्तरात्मा इस महासत्य का अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमें दम्भ या घमण्ड कहाँ है? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्मविश्वास के आक्रमणकारी पहलू को लक्ष्य किये बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजे में कही गई है कि वह आक्रमणमूलक हो गई है। 'सुर-नर-मुनि' को उँगली दिखाकर कहना और उनकी तुलना में अपने-आप को बैठा देना और फिर उनसे बड़ा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोता को चिढ़ाये बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहने वाले की लापरवाही। वह इतनी बड़ी चिढ़ा देने वाली बात कह गया है लेकिन कटुता के साथ नहीं, और प्रत्याक्रमण की चिन्ता के साथ तो बिलकुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त-मौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़;' भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे, इसीलिए उनकी उक्तियाँ बेधने वाली और व्यंग्य चोट करने वाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियों ने स्वयं अपने लिए बाह्याचार का आडम्बर बना रखा था, इसलिए उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नहीं थी जो कबीर को इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध और योगी लोग जितनी भी पोथी की निन्दा क्यों न करें, पोथी उनकी पढ़ी होती थी और भीतर-ही-भीतर वे पोथी की महिमा से अभिभूत होते थे। कबीर के समान निर्भीक आत्म-विश्वास के साथ वे कभी नहीं कह सके कि—

मेरा तेरा मनुआ कैसें इक होइ रे!
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता कागद की लेखी;

मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे!

अंखड आत्म-विश्वास और अहैतुक भक्ति के बिना इतनी सफाई से कोई नहीं कह सकता कि तु राख्यो अरुझाइ रे! सहज बात को सहज ही न कह व्यर्थ तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागद की लेखी' का कार्य नहीं है? कबीर के बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्त ने कहा था—शुरू से ही कुछ लोग नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में सोचने का अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है उतना ही बड़ा पंडित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशल से वे भगवान् से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओं को ही ये तर्क-निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते हैं—

अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले—
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यात्राधिक कल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः!

कविकर्णपूर चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और भी बहुत दिन बाद एक और कवि ने अचरज-भरी मुद्रा में व्यर्थ के तर्कजाल को देखकर हैरान होकर कहा है, उनकी बातें मुझे चक्कर में डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझ में आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी-सी बात है—

ओदरे कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बातास,
एइ त सबइ सोजासुजि॥

—रवीन्द्रनाथ

कबीर 'ज्ञान के हाथी' पर चढ़े हुए थे, पर 'सहज का दुलीचा' डाले बिना नहीं, भक्ति के मन्दिर में प्रविष्ट हुए थे, पर 'खाला का घर' समझकर नहीं; बाह्याचार का खण्डन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं; भगद्विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भरकर नहीं; राम को आग्रह-पूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं—सर्वत्र उन्होंने एकसमता (बैलेंस) रखी थी। केवल कुछ थोड़े-से विषयों में वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान् के नाम पर पाखण्ड रखने वालों को उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरों को गुमराह बनाने वालों को उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरों पर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगों की गलती दिखाने में उन्हें एक तरह का रस मिलता था। व्यंग्य करने में उन्हें जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पद में गंगा

नहाने वालियों की कैसी कसकर खबर ली गई है—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूँड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय।
पाँच-पचीस कै धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आई गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरु सों, नहीं तोर मुकुती जाइ नसाय।।

क०वच०, 144

भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा। क्योंकि उनके दैन्य में भी उनका आत्म-विश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेमरूपी मन्दिरा से मतवाला बना हुआ था वह ज्ञान के गुण से तैयार की गई थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उनमें एकान्त अभाव भा। युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युगप्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है: वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे—बेपरवाह, दृढ, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।

20

मेघदूत : एक पुरानी कहानी

कहानी बहुत पुरानी है, किन्तु बार-बार नए सिरे से कही जाती है। अत: एक बार फिर दुहराने में कोई नुकसान नहीं है।

एक यक्ष था, अलकापुरी का निवासी। इस देश और इस काल के निवासियों की दृष्टि से देखा जाय तो वह निहायत ग़रीब नहीं कहा जा सकता। दूर से ही उसके विशाल महल का तोरण इन्द्रधनुष के समान झलमलाया करता था। मकान की सीमा में ही जो मनोहर वापी उसने बनवाई थी, उसकी सीढ़ियाँ मरकत मणि की शिलाओं से बाँधी गई थीं और उसके भीतर वैडूर्य मणि के स्निग्ध-चिकने-नालों पर मनोहर स्वर्ण-कमल खिले रहते थे। इस वापी के निकट ही इन्द्रनील मणियों से बना हुआ क्रीड़ा-पर्वत था. जिसके चारों ओर कनक-कदली का बेड़ा लगा था। एक माधवी-मण्डप का क्रीड़ानिकुंज था, जिसके ठीक मध्य में स्फटिक मणि की चौकी पर कांचनी वासयष्टि थी, जिस पर उस यक्ष का शौकीन पालतू मयूर बैठा करता था—शौकीन इसलिए कि यक्षप्रिया की चूड़ियों की झंकार

से ही नाच लेने में उसे रस मिलता था। ग़रज कि मकान की शान देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह ग़रीब था। उसके बाहरी द्वार के शाखा-स्तंभों पर पद्म और शंख थे, जिसका मतलब कुछ विद्वान् यह बताते हैं कि शंख और पद्म तक की संपत्ति उसके पास थी और कुछ विद्वान् इसे उन दिनों के पैसे वालों की महत्त्वाकांक्षा का चिह्न-मात्र मानते हैं। जो भी हो, यक्ष बहुत ग़रीब नहीं था। कल्पवृक्ष के पास रहने वालों को धन की क्या कमी हो सकती है भला!

परन्तु निर्धन चाहे न हो, नौकरी पेशा आदमी वह ज़रूर था। यह तो नहीं मालूम कि वह क्या काम करता था; मगर मेघदूत के टीकाकारों ने जो अनुमान भिड़ाए हैं, उनसे यही पता लगता है कि वह कोई बहुत ऊँचे ओहदे का आदमी नहीं था। कुछ लोग बताते हैं कि यक्षपति कुबेर का माली था। प्रिया के प्रेम में वह निरन्तर ऐसा पगा रहता था कि काम-काज पर बिल्कुल ध्यान नहीं देता था। एक दिन इन्द्र का मतवाला हाथी ऐरावत आकर बगीचा उजाड़ गया और इन हज़रत को पता भी नहीं चला! कुबेर रईस आदमी थे, फूलों के बड़े शौकीन। उन्हें यक्ष की—बेचारे का नाम किसी ने नहीं बताया—इस हरकत पर क्रोध आया और उसे साल-भर के लिए देश निकालने की सज़ा दे दी। दूसरे लोग कहते हैं, कुबेर ने प्रातःकाल पूजा के लिए ताज़े कमल के फूल लाने के काम पर उसे नियुक्त किया था। पर प्रातःकाल उठ सकने में कठिनाई थी और यह प्रमादी सेवक बासी फूल दे आया करता था। जो हो, इतना स्पष्ट लगता है कि नौकरी वह मामूली-सी ही करता था। ग़फ़लत कर गया और साल-भर के लिए देश-निकाले का दण्डभागी बना। पहली कहानी कुछ अधिक ठीक जान पड़ती है। ज़रूर ऐरावत ने ही इस बेचारे की दुर्दशा कराई होगी! मेघदूत में ऐसा इशारा भी है।

कुबेर चाहते, तो जुर्माना कर सकते थे। पर वह दण्ड बेकार होता, क्योंकि कल्पवृक्ष से वह जो चाहता, वही माँग लेता और जुर्माना चुका देता। जेलखाने वहाँ शायद थे ही नहीं। उस नगरी में एकमात्र बन्धन प्रिया का बाहु-पाश था। पर कुबेर ने इस दण्ड से कोई विशेष फायदा नहीं देखा। असल में देश-निकाले से बढ़कर और कोई दण्ड उस देश में हो ही नहीं सकता था। मगर यक्ष कुबेर का चाहे जितना भी अदना नौकर क्यों न हो, था देवयोनि का जीव। निधियाँ उसके अधिकार में थीं, सिद्धियाँ उसके लिए सब-कुछ करने को प्रस्तुत थीं। इसलिए सिर्फ राजा देश से यदि दण्ड दिया जाता, तो यक्ष कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य कर लेता, जिससे वह अलका के बाहर भी आराम से रह सकता था। हज़ार हो, देवयोनि में जन्मा था, सो कुबेर ने उसे सज़ा नहीं दी, शाप दिया। देवता ही देवता को मारना जानता है। लोहा ही लोहे को काट सकता है।

प्रेमजन्य प्रसाद इतिहास में और भी हुए हैं। यक्ष ने जो ग़फ़लत की, वैसी ही और भी कई बार की गई है। कहते हैं, खानखाना अब्दुर्रहीम का एक साधारण भृत्य प्रिया-प्रेम में कर्त्तव्य-बुद्धि से इतना हीन हो गया कि छह महीने तक काम पर ही न गया। गया तो डरता हुआ और जीवन की सबसे कठिन सज़ा सुनने की आशंका लिए हुए। उसकी प्रिया

कविता लिख लेती थी। उसने पुरज़े पर एक बरवै छन्द लिख दिया था। इस पर कवि रहीम ने भृत्य का अपराध क्षमा कर दिया था और पुरस्कार भी दिया था। वे मनुष्य थे, पर कुबेर तो देवता थे। मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह ग़लती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है। सो कुबेर ने उसे शाप दे दिया।

उस बेचारे की महिमा कम हो गई। उसका देवत्व जाता रहा। कहाँ जाय, क्या करे? शहर अच्छे नहीं लगते, जंगलों में मन नहीं रमता, जीवन में पहली बार प्रिया का दुःसह वियोग सहना पड़ा। उसने रामगिरि के पवित्र आश्रम में अपनी बस्ती बनाई। बड़े-बड़े घनच्छाय वृक्षों से आश्रम लहलहा रहा था और ठंडे पानी के वे पवित्र सोते यहाँ काफ़ी संख्या में थे, जिनमें जनकनंदिनी ने न-जाने कितनी बार स्नान किया था। विरह की बेचैनी काटने के लिए इससे अच्छा स्थान नहीं चुना जा सकता था। राम से बड़ा विरही और कौन हो सकता है? और इतना अपार धैर्य और किस में मिल सकता है? अपने हाथों से राम और सीता ने जो पेड़ लगाए थे, उनकी शीतल छाया से बढ़कर शामक वस्तु और क्या हो सकती है? यक्ष ने बहुत सोच-समझकर, निहायत अक्लमन्दी से यही स्थान चुना—पवित्र, शीतल और शामक।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥1॥

रामगिरि सरगुजा-रियासत की कोई छोटी-सी पहाड़ी है। एक समतल भूमि पर से यह पहाड़ी उठी है। बहुत ऊँची नहीं है। लेकिन इसके उत्तर की ओर और उत्तर-पूर्व की ओर काफ़ी ऊँची पर्वत-मालाएँ हैं। पहाड़ जहाँ थोड़ा समतल होकर नीचे की ओर ढलता है, उस ढलाव को संस्कृत में 'सानु' या 'पर्वत-नितम्ब' कहते हैं। रामगिरि के ढलाव बड़े मनोरम हैं। बेचारा यक्ष आठ महीने तो किसी प्रकार काट गया, पर अचानक आषाढ़ मास की पहली तिथि को रामगिरि के सानु-देश में लगे हुए एक काले मेघ को देखकर व्याकुल हो उठा। वर्षा का सुहावना काल किसे नहीं व्याकुल कर देता? यक्ष बेचारा तो यों ही विरह का मारा था। जब आसमान मेघों से, पृथ्वी जलधारा से, दिशाएँ विद्युल्लताओं से, वन-कुंज पुष्पों से और नदियाँ नवीन जल-राशि से भरती रहती हैं, तो मनुष्य का लाचार हृदय भी अकारण औत्सुक्य से भरने लगता है—जैसे कुछ अनजाना खो गया हो, कुछ अनचीता हो गया हो। विरही यक्ष ने पर्वत के सानु-देश पर सटे हुए काले मेघ को देखा। कैसा देखा? जैसे कोई काला मतवाला हाथी पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारने का खेल-खेल रहा हो! किसी दिन इन्द्र के मतवाले हाथी ने इसी प्रकार ढूँसा मारकर कुबेर का बगीचा

बरबाद कर दिया था। यक्ष का सोने का संसार धूल में मिल गया। वह दुनिया के एक कोने में फेंक दिया गया, प्रिया से दूर—बहुत दूर। आज यह मेघ भी मतवाले हाथी के समान पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मार रहा है। यक्ष का हृदय चंचल हो उठा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आया—तपे हुए सोने के समान वर्ण, छरहरा शरीर, नुकीले दाँत, पके बिंबफल के समान अधर, चकित हरिणी के समान नेत्र—विधाता की मानो पहली रचना हो, जब उनके पास सब सामग्री पूरी मात्रा में थी, कहीं उन्होंने कृपणता नहीं दिखाई; शोभा की खानि, सौन्दर्य की तरंगिणी, कमनीयता की मूर्त्ति। हा विधाता, आज फिर यह हाथी आया! क्या अनर्थ करेगा यह? लेकिन यक्ष ने ध्यान से देखा, यह हाथी के समान दिखाई देने वाला जीव हाथी नहीं है, पहाड़ पर अटका हुआ मेघ है। भीगी हवा के झोंकों से हिल रहा है, आगे बढ़ता है, पीछे हटता है, झूमता है, झमकता है! ना, यह ढूँसा मारने वाला हाथी नहीं है। यह तो हवा के झोंके से झूमने वाला मेघ है। विरह से उसका शरीर बहुत जर्जर हो गया था, हाथ में का सुवर्ण कंकण ढीला होकर खिसक गया था, जैसे पतझड़ के मौसम में खड़ा देवदारु का वृक्ष हो—श्री-हीन, पौरुष-हीन। 'अबला' के वियोग में ऐसी निर्बलता भी आ जाती है!

आठ मास बीत गए, पर अब नहीं सहा जाता। प्रियावियोग के आठ मास! रामगिरि का कोना-कोना रामप्रेममय जीवन की स्मृतियाँ ताजी करता रहता था। कनक-वलय के भ्रंश होने से मालूम हुआ कि अब शरीर असमर्थ हो गया है। अब नहीं सहा जाएगा और इसी बीच आषाढ़ का प्रथम दिवस, पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारने वाले मतवाले हाथी-सा दिखने वाला यह काला मेघ! हा राम!

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥2॥

विरह का मारा यक्ष मेघ के सामने आकर खड़ा हो गया। मेघ ही तो है! बलिहारी है इस मसृण-मेदुर कान्ति की! राजराज कुबेर के उस हतभाग्य अनुचर की आँखों में आँसू आए और आकर रुक गए। कितनी भक्ति और निष्ठा के साथ उसने मालिक की सेवा की थी और कितने दिनों तक! ज़रा-सी गलती पर उन्हें क्या उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए था? आज वह इस नील-मेदुर कान्ति वाले मेघ के सामने ऐसा जबदा खड़ा है कि आँसू भी निकल पा रहे हैं। मेघ को देखकर सुखी लोगों का चित्त भी कुछ और-का-और हो जाता है, विरही तो विरही है। जिनके प्रणयी नज़दीक हैं—इतने नज़दीक कि गले से गला उलझा हुआ—वे भी व्याकुल हो जाते हैं; फिर उन लोगों की क्या अवस्था होगी, जो प्रिय से दूर हों, जहाँ चिट्ठी-पत्री भी दुर्लभ हो! यक्ष यही सोचता हुआ देर तक मेघ के सामने खड़ा रहा। पर खड़ा क्या हुआ जाता था? उत्कंठा जगानेवाले मेघ के सामने खड़ा होना क्या सहज है? फिर भी वह खड़ा रहा, देर तक खड़ा रहा। उसके हृदय में तूफान आए और

गए—पुरानी बातें एक-एक करके उठीं और विलीन हुईं। क्या था, और क्या हो गया! वह 'अन्तर्बाष्प' हो रहा। आँसुओं का पारावार भीतर ही विक्षुभित हो रहा था, बाहर उसका कोई चिह्न नहीं दिखाई दे रहा था, जैसे आँधी आने के पहले थमथमाया हुआ वायु-मंडल हो।

तस्य स्थित्वा कथमपि पुर: कौतुकाधानहेतो
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेत:
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥3॥

कैलास पर वर्षा जरा देर से शुरू होती है। मध्य देश में आषाढ़ की पहली तिथि को ही मेघ दीख गया, किन्तु वहाँ अभी देर है। सावन के महीने में वहाँ झमाझम पानी बरसने लगता है। यक्ष ने व्याकुल भाव से सोचा कि मेरी यह अवस्था है, तो बेचारी उस कोमल बालिका की क्या दशा होगी? सावन के महीने में जब परत पर-परत के समान सजी हुई मेघमाला से आकाश भर जायगा, पहाड़ों पर नाचने वाले मयूर जब हर मेघ-नि:स्वन के ताल पर छमाछम नाचते रहेंगे और नीचे धरती कदली पुष्पों से गमगमा उठेगी, तो विरहिणी किधर दृष्टि ले जायगी? सब ओर केवल हूक पैदा करने वाले दृश्य होंगे—केवल वेध देने वाली शोभा! सावन के महीने को संस्कृत में 'नभस्' कहते हैं। सचमुच ही इस महीने में आसमान धरती पर उतर आता है। क्या होगा उस प्रेम-पुत्तलिका का उस विकराल सावन में? इन दिनों तो वह किसी प्रकार दिन गिन लेती होगी, वीणा बजाकर मन बहला लेती होगी, मुखरा सारिका से प्रिय का नाम सुन लेती होगी, चित्रकर्म में विश्राम पा लेती होगी; किन्तु सावन के महीने में जब एक ही साथ नर्त्तमान मयूर और परितृप्त चातक की पुकार का, उद्भिन्न-केसर कदम्ब और उद्घाटित-पटला मालती की भीनी-भीनी गंध का और सबके ऊपर रिमझिम-रिमझिम बरसने वाले बादलों की झड़ी का आक्रमण होगा, तो क्या वह धैर्य रख सकेगी? हा विधाता, सावन में यक्षप्रिया कैसे बचेगी!

और सावन के आने में देर ही कितनी है? वह सिर पर आ गया है—बिल्कुल प्रत्यासन्न। दयिता—प्रिया—के प्राणों का कुछ अवलंब होना चाहिए। कुछ तो करना ही चाहिए। और कुछ नहीं, तो प्रिय का कुशल-संवाद भी मामूली सहारा नहीं होता। परन्तु कौन ले जायगा यह संवाद? रास्ते में जाने कितनी नदियाँ हैं, कितने पहाड़ हैं, वर्षा का भयंकर मार्ग-रोधी काल है। बड़े-बड़े राजे भी इन दिनों घर से निकलने की हिम्मत नहीं करते। परिव्राजक जन भी चुप-चाप कहीं बैठे रहते हैं। इस दुर्घट काल में कौन सन्देशा ले जाएगा? सावन तक सन्देशा अवश्य पहुँच जाना चाहिए! रामचन्द्र का सन्देशा तो महाबलवान हनूमान ले गए थे। पर यक्ष को ऐसा दूत कहाँ मिलेगा? ना, यह असंभव बात है। यक्ष ने व्याकुल भाव से सोचा कि कौन कामचारी ऐसा है, जो उसका संदेशा ले जाए। संदेशवाहक के पहले ही मेघ पहुँचा, तो फिर कोई आशा नहीं, प्रिया के प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे। फिर कहाँ का सन्देशा और कहाँ का प्रेम! जब सन्देशवाहक के पहले मेघ ही

सावन में अलकापुरी में पहुँचेगा, तो क्यों न मेघ को ही संदेशवाहक बनाया जाय? यक्ष का चेहरा क्षण-भर में खिल उठा। इतनी सीधी-सी बात समझने में इतनी देर लगी! उसने तुरंत ताजे कुरैया के फूलों को तोड़कर प्रीति-स्निग्ध कंठ से मेघ को भेंट किए। स्वागत है, नवीन जीवन ले आनेवाले प्रेम-वाहक बलाहक! स्वागत है। यह अर्घ्य ग्रहण करो, श्रद्धा और प्रीतिका अर्घ्य। स्वागत है, नील मेदुर कान्तिवाले मोहन घनश्याम, स्वागत है!

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रै: कुटजकुसुमै: कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीत: प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ।।4।।

लेकिन यह तो पागलपन की हद है! घाम-धूम-नीर और समीरन कौ सन्निपात, ऐसो जड़ मेघ कहा दूत-काज करि है?'—आज तक यह हुआ भी है? धुएँ, प्रकाश, जल और वायु से बना हुआ मेघ कहाँ, और संदेश ले जाने वाला चतुर संदेशवाहक कहाँ! यक्ष का दिमाग़ ख़राब हो गया क्या? वररुचिने बताया है कि प्रेमपत्र ले जाने वाले को बहुत सावधान होना चाहिए। उसे हर अवस्था की सुकुमारता का ज्ञान होना चाहिए। हर्षातिरेक से विरही प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, कभी लम्बी भूमिका से उनका दम घुट जाता है, कभी अननुकूल लोंगों की संगति में बैठे हुए विरही शुभ सन्देश के फल-स्वरूप कष्ट पाने लगते हैं—हज़ार बातों का ध्यान रखना होता है। और यह भाग्यहीन यक्ष इस जड़ मेघ को प्रेम-सन्देश का वाहक बनाना होता है!

मगर यक्ष को यह सब सोचने की फुरसत नहीं थी। वह कामनाओं से कातर था, औत्सुक्य से आर्त्त था। 'आरत के चित रहै न चेतू'—वह होश में नहीं था। ऐसा प्राय: देखा गया है कि प्रेम-वियोग की पीड़ी से जो लोग व्यथित होते हैं, वे चेतन-अचेतन, बड़े-छोटे सबके सामने दयनीय होकर—कृपण होकर—उपस्थित होते हैं। मानो हर आदमी उसके साथ सहानुभूति ही दिखाएगा, हर ईंट-पत्थर उसकी सहायता ही कर देगा! क्यों ऐसा होता है? क्या प्रेम-दशा में उत्थित व्यक्ति संसार के प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर किसी अन्तर्विलीन विराट् चेतना का संधान पा जाता है? ज़रूर पा जाता होगा। यक्ष तो अवश्य पाने में समर्थ हुआ था। उसने मेघ को परम सहानुभूति-सम्पन्न मित्र के रूप में ही देखा; उसने हृदय गला देने वाला सन्देश भेजा। अत्यन्त विश्वसनीय घनिष्ठ मित्र के सिवा और किसी से यह सन्देश नहीं कहा जा सकता। उसे आप पागल कहें, प्रकृतिकृपण कहें; पर उसने जगत् के भीतर निरन्तर स्पन्दित होने वाली विराट् चेतना को पहचान लिया था।

धूमज्योति: सलिलमरुतां सन्निपात: क्व मेघ:
सन्देशार्था: क्व पटुकरणै: प्राणिभि: प्रापणीया: ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।।5।।

पुरानी कहानी का कथामुख या भूमिका-भाग इतना ही है। आधुनिक पाठक कुछ और

जानना चाहेगा। यक्ष उस समय—किस समय? प्रात:काल, दोपहरको या सन्ध्या समय?—किधर मुँह करके बैठा था? मेघ पर्वत के किस किनारे लगा हुआ था? इस सम्बन्ध में कालिदास ने कुछ नहीं बताया। यक्ष का नाम तक तो बताया ही नहीं, फिर अधिक की क्या आशा की जाय? मगर हवा जरूर दक्षिण से आ रही थी और मेघ महाशय भी उत्तर की ओर चलने को प्रस्तुत जान पड़ते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि इस यक्ष जैसा विरही सदा उत्तर की ओर मुँह करके बैठा रहता होगा। उसकी प्रिया उत्तर की ओर ही रहती थी। रामगिरि के दक्षिण किनारे पर वह उत्तर की ओर मुँह किए बैठा होगा, उदास और कातर। सामने की किसी चोटी के निम्नतर ढलाव के पास मेघ-रूपी हाथी ढूँसा मारने का खेल खेल रहा होगा। समय कदाचित् संध्या-काल का हो। इसी समय उसके चेतनाचेतनविवेक के ह्रास होने की सबसे अधिक संभावना है। कहते हैं, विरही इसी समय सबसे अधिक व्याकुल होता है और इसी समय वह सहारा ढूँढता फिरता है। इस समय सहारा नहीं मिलने से व्याकुलता पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। अपभ्रंश के कवि ने एक नवीन विरह की सताई विरहिणी से कहलवाया है कि मैं समझती थी कि प्रिय-विरहिता बालाओं का कोई-न-कोई सायंकाल अवश्य धरहर करने वाला मिल जाता होगा; पर यह धारणा एकदम ग़लत साबित हुई। इस समय तो कम्बख्त चाँद भी—जो शीतलता के लिए बहुत प्रसिद्ध है—ऐसा तपता है, जैसा प्रलय-काल में सूर्य तपता है!

मइँ जाणिउँ पिय विरहियहँ, कवि धरु होई वियालि।
णवर मियंकु वितह तवई, जह दिणयरु खय गालि॥

मगर यक्ष इतना अनुभवहीन विरही नहीं था। वह जानता था कि विधाता जब वाम होता है, तो चित्र में भी प्रिय कल्पना व्यर्थ हो जाती है। स्वप्न में भी मिलन असफल रह जाता है। कोई भी युक्ति काम नहीं करती। फिर भी दिन में उसे कुछ-न-कुछ सहारा मिल जाता था। हरिणी के नयनों में, वृक्षों के अरुण किसलयों में, पद्म के वेधक कोरकों में, प्रियंगु लता की झूमती वल्लरी में प्रिया के किसी-न-किसी अंग का साम्य मिल ही जाता था। यद्यपि उसे इस बात का बड़ा दु:ख था कि उसे एक ही जगह सब अंगों का साम्य नहीं मिल पाता। लेकिन जब भाग्य खोटा हो, तो इतना तो सहना ही पड़ता है। सन्ध्या समय जब धीरे - धीरे अन्धकार धरती-तल पर उतरने लगता और सब-कुछ पर घने काले अंजन को पोत देता, तो यह सहारा भी जाता रहता। निश्चय ही उस समय उसका मन सबसे अधिक उत्क्षिप्त होता होगा। मतवाले काले हाथी-जैसा दिखने वाला मेघ निश्चय ही सायंकाल दिखा होगा। कालिदास ने कुछ सोचकर ही ये सब बातें नहीं बताईं। वे चाहते, तो सन्ध्या का ऐसा मनोरम चित्र खींच देते कि बस, पढ़ते ही बनता। पर उन्होंने इस पचड़े को छोड़ दिया। जो छूट गया, उसे छूटा ही रहने दिया जाय।

21

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!

कुछ दिन पहले एक अपरिचित मित्र आये थे। वे कुछ लिखने की योजना बना चुके थे। मुझसे कुछ परामर्श चाहते थे। मैं थोड़ी देर की बातचीत में ही समझ गया कि वे परामर्श कम और स्वीकृति अधिक चाहते थे। उन्होंने कहा था कि विधाता ने मनुष्यमात्र को सौ साल की आयु दी है, कुछ लोग पूर्वजन्म के पापों के कारण पहले ही मर जाते हैं और कुछ दूसरे लोग इस जन्म के पुण्यों के कारण अधिक जी जाते हैं। जो लोग 66-67 साल तक जी जाते हैं उनके पूर्वजन्म के पाप बहुत प्रचण्ड नहीं होते। शास्त्र के अनुसार वे मध्यम आयु भोगकर दीर्घायु में प्रवेश करते हैं। उस दिन मेरे यह मित्र बता गये थे कि वे दीर्घायु में प्रवेश कर चुके हैं या प्रवेश करने की तैयारी में हैं। मैंने जब उनसे पूछा कि वे निश्चित रूप से क्यों नहीं कहते, तो उन्होंने बताया कि निश्चित रूप से दस दिन के बाद ही बता सकते हैं! कारण यह था कि अभी चान्द्र गणना के अनुसार ही दीर्घायु के कोठे में पहुँचे हैं, सौर गणना के हिसाब से अभी दस दिन शेष हैं! उन्होंने गम्भीर मुद्रा में बताया था कि यमराज के कार्यालय में चान्द्र गणना प्रचलित है पर विधाता के दफ़्तर में सौर गणना के हिसाब के काम होता है। यमराज पितृयान-परम्परा पर चलते हैं ब्रह्माजी देवयान-परम्परा पर। कभी-कभी दोनों दफ़्तरों की गणनाएँ परस्पर टकरा जाती हैं। अन्तिम निर्णय विधाता (ब्रह्मा) के इंगित पर होता है। पर दोनों में जितने दिनों का अन्तर होता है, उतने दिनों तक मरने वालों को बड़ी साँसत सहनी पड़ती है। यमराज के दूत उन्हें घसीट कर ले जाना चाहते हैं। उधर ब्रह्मा का आदेश न मिलने से मरण-शय्या पर पड़े रोगी का जीव निकल नहीं पाता। बुरी खींच-तान में बिचारे की दुर्गति हो जाती है। इस जानकारी के कारण मेरे यह मित्र संदिग्ध भाषा में बोल रहे थे। पर दस दिन का अन्तर कोई खास अन्तर नहीं है। वे आश्वस्त थे कि अगले दस दिन भी निर्विघ्न बीत जाएँगे, क्योंकि उनके पुराने पापों की कमज़ोरी तो सिद्ध हो ही चुकी है। यह और बात है कि हर विश्वास-परायण हिन्दू के समान वे भी हिसाबी थे। अपनी बात का उपसंहार करते हुए उन्होंने हाथ घुमाकर, मुँह बिचकाकर, इतना जोड़ दिया था कि "पर कौन जानता है? क्षणमूर्ध्वं न जानामि विधाता किं करिष्यति!"

इस अपरिचित मित्र की बात मुझे आकर्षक लगी थी। मुझे विश्वास हुआ था या यों कहिए कि मैंने मन ही मन शुभकामना की थी कि वे केवल दीर्घायु में प्रवेश ही नहीं करेंगे, उसे पूर्णतः भोगेंगे।

आज प्रमाण मिल गया है कि वे सचमुच दीर्घायु के कोठे में प्रवेश कर गये हैं।

यह उस दिन की बात है जब वे कुछ लिखने का संकल्प कर चुके थे और मुझे समर्पित करने की अनुमति माँग गये थे। अब तो वे सौर गणना के अनुसार

भी दीर्घायु में प्रवेश कर चुके हैं। उनका पोथा भी आ गया है।

कभी-कभी जीवन में ऐसी बातें घट जाती हैं जिन्हें साहित्यिक समालोचक 'नाटकीय' समझकर उपेक्षा करते हैं। मतलब यह होता है कि जीवन में तो वह घटता नहीं, लेखक ज़बर्दस्ती घटा लेता है; अर्थात् नाटककार जिस प्रकार कथा को अपनी वांछित दिशा में मोड़ लिया करता है उसी प्रकार ऐसी बातें भी बना ली जाती हैं। समालोचकों से न डरना कोई बुद्धिमानी नहीं है पर डर के सही बात न कहना भी कोई अच्छी बात नहीं कही जा सकती। जीवन में कभी-कभी ऐसी बातें अवश्य ही घट जाती हैं और उन्हें 'नाटकीय' कहने का एक ही अर्थ हो सकता है कि जीवन भी एक नाटक ही है। ईमानदारी की बात तो यही है कि जीवन सचमुच ही एक नाटक है। मेरे मित्र भी ऐसा ही मानते हैं। यहाँ मुद्दे की बात सिर्फ़ इतनी है कि जब यह मित्र अपनी बात कह रहे थे तो मैं भी मन ही मन हिसाब करने लगा था और यह विचित्र संयोग है कि मैं भी $66\frac{2}{3}$ वर्ष पार कर रहा था! पर मेरे मित्र मुझे इससे अधिक आयु का समझ रहे थे क्योंकि श्रद्धापूर्वक वे कह गये थे कि आप तो अब देवता-कोटि में पहुँच चुके हैं। उनकी बात का अर्थ मैं समझता था। पर मैंने प्रतिवाद करने की आवश्यकता नहीं समझी। महाभारत में कहीं लिखा है कि जो आदमी सतहत्तर वर्ष, सात महीने, सात दिन जी जाता है वह देवता बन जाता है, सो उनके विचार से मैं इतनी उमर पार कर गया था। प्रतिवाद करने से व्यर्थ ही बात बढ़ती। और अन्तर भी कितना है? सिर्फ़ ग्यारह साल का! ग्यारह साल के लिए एक घण्टे की माथापच्ची कोई अक़्लमन्दी नहीं जान पड़ी! सो, वे कहते गये, मैं सुनता गया।

मेरे इस मित्र के समान कल्पनाशील आदमी कम ही होते हैं। वे अपनी कल्पनाओं को प्रामाणिक इतिहास मान लेते थे। उसमें रम जाते थे और प्रतिवाद या रोकाटोकी से मर्माहित-से हो उठते थे। आँसूभरी आँखों से ताकने लगते थे, जिसका अर्थ होता था—'आप भी ऐसा ही कहते हैं!'

मुझे ऐसे अवसरों पर उन्हें यह समझाने में काफ़ी समय लग जाता था कि उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह करना मेरा उद्देश्य नहीं था। हालाँकि उद्देश्य यही होता था। इस प्रकार के झूठ में कोई दोष नहीं माना जाता क्योंकि इसे अभिजात जनोचित शिष्टता ही समझा जाता है। फिर भी झूठ तो झूठ ही होता है। इससे बचने का शिष्ट तरीक़ा 'मौन' है—ऐसा मौन जिससे सुनाने वाले को पता ही न चले कि सुनने वाले के मन में क्या प्रतिक्रिया हो रही है। यह बात भी नाटकीय जैसी ही है। ऐसा नाटक मैं बहुत कर चुका हूँ। इसलिए मुझे इसमें कोई खास परेशानी नहीं हुई।

मेरे मित्र ने बताया था कि जब सूरदास ने यही अवस्था पार की थी तभी उन्होंने वह प्रसिद्ध पद लिखा था जिसमें कहा गया है कि 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!' प्रमाण? प्रमाण यही था कि ठीक आज ही, जब वे चान्द्र गणना के अनुसार $66\frac{2}{3}$ साल पूरे कर चुके हैं, इसी प्रकार के भाव उनके मन में आये हैं! मेरा मन सनाका खा गया था। मैं भी आज प्रात:काल से यह पद रटे जा रहा था! तो क्या यह मान लिया जाए कि सूरदास जब

$66\frac{2}{3}$ साल के हुए तो उनके मन में इस प्रकार का पश्चाताप हुआ था? सूरदास बहुत महान् सन्त थे। उनके बारे में तो यह दैन्योक्ति ही कही जायेगी। पर मेरे मन में और मेरे सामने बैठे अपरिचित मित्र के मन में यह भाव आज ही कैसे आ गया? दो के मन में उठा है तो तीसरे, चौथे के मन में भी उठता होगा! $66\frac{2}{3}$ महत्त्वपूर्ण लगता है!

मेरे मित्र उस दिन आश्वस्त होकर गये थे, पर मेरे मन में एक विचित्र हलचल पैदा कर गये थे।

उनकी बातों में भोलेपन के आवरण में अजीब लुभावनापन भी था। मैंने उनका नाम और पता जान लेना चाहा था पर वे विचित्र असमंजस में पड़ गये थे। 'नाम में क्या रखा है? कुछ भी समझ लीजिए। आप ही बताइए, आपका क्या नाम है? जिस नाम से सारी दुनिया आपको जानती है वह नाम क्या आपके गुरुजनों के मन में कहीं भी था, जब आप इस संसार में आये थे? और अब आप जिस नाम से जाने जाते हैं उसी का कोई वास्तविकता के साथ तालमेल है? असल में नाम धोखा है।' और कोई अवसर होता तो उनकी बात को हँस कर उड़ा देता। कई लोग दूसरों पर रहस्यवादिता का रोब जमाने के लिए इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान का घटाटोप फैलाया करते हैं पर $66\frac{2}{3}$ की महिमा है कि मैं उस दिन अभिभूत हो गया। यह सही है कि अपने प्रचलित नाम के कारण मुझे कई बार कठिनाइयों में पड़ना पड़ा है। एक अहिन्दी भाषी नेता ने जब मुझसे इसका अर्थ पूछा तो मैं केवल यही उत्तर दे सका कि यह नाम शब्द के रूप में बिलकुल अर्थहीन है। एक दूसरे विद्वान् ने इसका अर्थ स्वयं बता दिया जो मेरी दृष्टि में बेमानी था। उनके अनुसार यह एक देवी के नाम से सम्बद्ध है। एक बार संस्कृत का पक्ष लेकर कुछ बोल रहा था कि किसी मित्र ने मज़ाक किया कि नाम तो आपका हिन्दुस्तानी है और समर्थन कर रहे है संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का। उस दिन मैंने भी कहा था—नाम में क्या रखा है! भगवान् साक्षी है कि मैं न संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहा था, न तथाकथित हिन्दुस्तानी का विरोध। कर रहा था संस्कृत की समृद्धि की स्थापना, पर मेरा नाम अकारण घसीट लाया गया।

इस नाम को लेकर मुझे अपने एक परम श्रद्धेय गुरु से भी उलझना पड़ा। अगर उस समय उलझने में हठ न पकड़ लेता तो शायद यह नाम बदल ही गया होता। मेरे श्रद्धेय गुरु संस्कृत के महान् विद्वान् थे। उन्होंने कहा था कि तेरे नाम में मुसलमानियत की बू है। पितामह का दिया हुआ 'वैद्यनाथ' नाम ही ठीक है। बदल दे। मुझे 'बू' शब्द खटक गया। मैंने प्रतिवाद किया, गुरुजी, सुगन्धि कहिए। अगर इसमें ऐसी सुगन्धि है तो मैं इसे नहीं बदलने दूँगा। गुरुजी द्रवित हो गये। बोले, तो रहने दे। और पितृ-पितामह का दिया नाम छूट गया, लोकदत्त नाम रह गया! एक बार मेरे परम श्रद्धेय अग्रज-तुल्य महान् कवि 'नवीन' जी ने मुझे एक पुस्तक भेंट की। उन्होंने उसमें मेरा नाम 'सहस्रार प्रसाद' कर दिया और कहा कि मैंने तुम्हारा नाम संस्कृत बना दिया। मैंने उन्हें बताया कि 'हजार' वस्तुतः 'सहस्र' शब्द में विद्यमान 'हस्र' का ही फ़ारसी उच्चारण है और इस शब्द द्वारा आर्य भाषा के विस्तृत परिवेश की सूचना मिलती है तो वे मुग्ध हो गये। पर मैंने उनके हाथ का लिखा

संस्कृतीकृत नाम बड़े जतन से अपने पास रख छोड़ा है। यह बात जब मैंने एक बड़े तांत्रिक विद्वान् को बतायी तो खिन्न और विस्मित भी हुए। दोनों का कारण हम लोगों का अज्ञान था। उनके मत से सहजावस्था देने वाली शक्ति का नाम ही हजारी है। 'सहज' शब्द गुणपरक है—'ह' (हठयोग) और 'ज' (जययोग) का समन्वित रूप और 'हजारी' क्रियापरक है—ह और ज का समन्वय करने वाली देवी—'हजमाराति या देवी महामायास्वरूपिणी, सा हजारीति संप्रोक्ता राधेति त्रिपुरेति वा'। मुझे याद आया कि एक महाराष्ट्र विद्वान् ने भी कभी बताया था कि 'हजारी' एक देवी का नाम है। होगा, पर मेरा यह नाम इसलिए नहीं पड़ा कि यह किसी तन्त्रशास्त्रोक्त देवी के साथ सम्बद्ध था, बल्कि इसलिए कि गाँव-घर के लोग प्रसन्न थे कि मेरे जन्म से एक विषम संकट ही नहीं टला था, कुछ हज़ार रुपये की आमदनी भी हो गयी थी। मुझे यह नाम 'विरुद' के रूप में मिला और अब तो गले पड़ गया है। पंडितों से तो सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि इसका अर्थ भी है—काफ़ी अच्छा अर्थ, जो शाक्त मत की त्रिपुरा हैं, वैष्णव मत की राधा हैं और योगियों की भाषा में हज़ारी हैं, मैं उन्हीं का प्रसाद हूँ। अर्थ अच्छा है, परमार्थ भी हो जाए तो क्या कहना, पर नाम में क्या रखा है, काम होना चाहिए। मेरे ये नये मित्र नाम नहीं बताना चाहते, काम दिखाना चाहते हैं। वे अपनी भावी रचना मुझे समर्पित करने की अनुमति लेकर चले गये। छोड़ गये सूरदास की व्याकुल वेदना, जो उन्होंने मेरे इस नये मित्र के अनुसार $66\frac{2}{3}$ वर्ष की अवस्था में अनुभव की थी—अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!

क्या तुलसीदास ने जब कातर-भाव से गाया था कि 'डासत ही निसिदिवस मर्‍यो' तब उनकी भी अवस्था $66\frac{2}{3}$ साल की ही थी? कौन बतायेगा? मित्र तो गये सो गये!

पर उनकी अनुपस्थिति का एक लाभ भी हुआ है। मैं उनकी भाषा में सोचने लगा था, उनके विचार को अपना सत्य मानने लगा था। नाम में क्या रखा है, यह एक विदेशी मुहावरा ही है। नाम इतना हल्का पदार्थ नहीं है। 'देखियत रूप नाम आधीना'। नाम को सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। नामी, नाम से ही पहचाना जाता है। जिस नाम को सामाजिक स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई वह निरर्थक शब्द मात्र है। अर्थ, नामी है। नाम उसका संकेत देने वाला पद है। नाम को जब सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है तो वह 'पद' बनता है। तभी नामी, पदार्थ—पद का अर्थ बनता है। मेरे अपरिचित मित्र तब तक 'अपदार्थ' हैं, जब तक उनका कोई नाम नहीं है। एक नाम 'अनाम' भी है। भाई जैनेन्द्रकुमार जी ने एक उपन्यास लिखा है—'अनाम स्वामी'। इस अपरिचित मित्र को भी 'अनाम' कहा जा सकता है। स्वामी वे नहीं थे। मैं उन्हें आवश्यकतानुसार 'अनामदास' कह सकता हूँ।

महात्माओं की बात और है। वे लोग अपने बहाने साधारण मनुष्यों के मन को कुछ अच्छी बात सिखाना चाहते होंगे। किन्तु मैं साधारण मनुष्य के रूप में ही सोच सकता हूँ। किसी को सिखाना इसका उद्देश्य नहीं है। पीछे की ओर देखता हूँ, विराट् रिक्तता! जो कुछ करता रहा हूँ वह क्या सचमुच किसी काम का था? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूँ, यही तो किया

है। छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म माना है, झूठी प्रशंसा पाने के लिए स्वाँग रचे हैं—इसी को सफलता मान लिया है। किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित नहीं हो सका, किसी का दु:ख दूर करने के लिए अपने को उलीच कर दे नहीं सका। सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंड़ा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया। तुलसीदास ने मेरे-जैसे ही किसी को देखकर कहा होगा—'कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि वासना न मन तैं जाई'।

मगर यह रोना भी व्यर्थ ही है। क्या लाभ है इससे? किस दुखिया के आँसू पुँछने की सम्भावना है इससे? किसी का भला न होता हो तो उसका पँवारा पसारना सामाजिक अपराध ही है। फलितार्थ सिर्फ़ इतना ही है कि अनामदास जी ने एक पोथा भेज दिया है। मुझे समर्पित है यह। पर समर्पण उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में साधारणत: हुआ करता है। उन्होंने लिखा है कि इसे जैसा चाहूँ वैसा करने का अधिकार मुझे है, इसी अर्थ में यह समर्पित है!

क्या किया जाए? न्यास का अत्तरदायित्व आ पड़ा है। छपा देना ही ठीक जान पड़ता है।

मगर छपे कैसे? काग़ज की ऐसी क़िल्लत है कि बड़े-बड़े नामी लेखकों की रचनाएँ नहीं छप पा रही हैं। हर प्रकाशक नाम खोजता है। ऐसा नाम, जो कस के कमाया गया हो। नाम भी कमाया जाता है। कोई भी नाम रख लेने से काम नहीं चलता। संसार नाम की भी कमाई देखता है और यह उनामदास कहता है कि नाम में क्या रखा है। गोसाईं तुलसीदास—जिनका असली नाम क्या था, वह विवाद का विषय बना हुआ है—कह गये हैं कि नाम जाने बिना तो करतलगत वस्तु भी नहीं पहचानी जाती। कुछ न कुछ नाम तो होना चाहिए। नाम से ही नामी की पहचान होती है। मैं एक बार एक विकट ज्योतिषी के पास गया था। नाम से ही सब बता देता था। मैंने पूछा कि राशि नाम बताऊँ या लोकनाम। बोले, लोक-नाम। मैं हैरान था, क्योंकि इसके पहले एक ज्योतिषी से पाला पड़ा या, वे राशि-नाम से फल भाखते थे। एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र में हर सप्ताह राशिफल निकलता है। यह राशिनाम के अनुसार देखा जा सकता है। जिस सप्ताह अनामदास मिले थे, उस सप्ताह उस दैनिक पत्र ने मेरी राशि का फल बहुत अच्छा नहीं बताया था। लिखा था, इस सप्ताह तुम्हारी प्रतिभा लुप्त हो जाएगी। प्रतिभा कितनी लुप्त हुई, यह मैं नहीं समझ सका, क्योंकि लुप्त होने के पहले वह होनी चाहिए। जिसके प्रतिभा ही नहीं उसकी प्रतिभा लोप ही होकर कौन-सा नया करिश्मा कर लेगी! मगर अब सोचता हूँ कि अनामदास का मिलना और प्रतिभा का लोप होना क्या एक ही बात है? सुना है कि प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि होती है, अनामदास शायद ऐसा पत्थर था जो उन्मेष की सम्भावना को भी दबा देता है। सारी दुनिया नाम कमाने के चक्कर में है और अनामदास ने उस दिन मुझे समझा दिया कि नाम में क्या रखा है? मैं भी मान गया, बुद्धि तो मारी ही गयी थी। राशि-नाम ठीक ही होता होगा!

मगर अनामदास ने बताया था कि राशि-नाम भी धोखा ही है। कहते थे, भारतीय वर्णमाला की विन्यास परम्परा से भिन्न यावनी वर्णमाला से राशि-नाम की पद्धति विकसित हुई है। किसी समय यहाँ कृत्तिका नक्षत्र से सत्ताईस नक्षत्रों की गणना होती थी, अब अश्विनी से होती है! पर बहुत-सी ज्योतिषिक गणनाएँ अब भी कृत्तिका से ही होती हैं! सत्ताईस नक्षत्रों के 108 चरण होते हैं। यावनी वर्णमाला में इतने अक्षर नहीं थे। जो थे, उनके पाँच स्वरों समेत 108 बनाना सम्भव नहीं था। क्रम उनका अ, ब, क जैसा था, बहुत-कुछ अंग्रेज़ी के ए, बी, सी की भाँति। यवन-भाषा के पाँच स्वरों के साथ आ, ई, ऊ, ए, ओ, बा, बी, बू, बे, बो होते थे। इन्हीं को नक्षत्रों के चरण का प्रतीक माना जाता था। मज़ेदार बात तो यह है कि इसे कहते भी अबकहरा चक्र ही हैं—यावनी वर्णमाल के चार अक्षरों का भारतीय रूप! संस्कृत वर्णमाला के घ, ङ, छ आदि कुछ अक्षर जोड़कर 108 की संख्या पूरी की गयी। यह एकदम कल्पित विधान है। कभी-कभी पंडित को इन अक्षरों से नाम बनाने में कठिनाई हो जाती है। मेरी ओर इशारा करके उन्होंने कहा था, क्या आपके नाम अर्थात् राशिनाम रखने में कठिनाई नहीं पड़ी होगी? मैं हैरान था। मेरा जन्म तुलसीदास की भाँति मूल नक्षत्र के प्रथम चरण में हुआ था। उसका सांकेतिक अक्षर 'ये' है। संस्कृत में 'ये' से बनने वाले शब्द कम ही हैं। मेरी पत्री बनाने वाले पंडित अवश्य चक्कर में पड़े थे। बहुत बुद्धिबल लगाकर उन्होंने नाम रखा 'येन नाथ'! क्या मतलब हुआ? मतलब यही हुआ कि नाम में क्या रखा है, कुछ भी रख दो, काम चल जाएगा। अनामदास का कहना है कि यह भी धोखा है। होगा! फल भाखने वाले तो काम चला ही लेते हैं। इस विचित्र विधान से ही ब्याह-शादी होती है। इससे जाति तय होती है, योनि का निश्चय होता है, गण का निर्णय होता है, कुण्डली मिलायी जाती है—एक समानान्तर व्यवस्था खड़ी हो जाती है। मेरे एक मित्र थे, प्रख्यात ब्रह्मण-वंश के कुल-भूषण। परन्तु उनका लड़का इस अबकहरा गणना-पद्धति के हिसाब से शूद्र वर्ण का निकला। यह केवल उसी ब्राह्मण कन्या से विवाह कर सकता था जो इस ज्योतिषिक गणना से शूद्रवर्ण की हो। अनेक लड़कियों के पिता उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर आये पर उनमें से एक भी जयोतिष के हिसाब से शूद्र नहीं निकली। जो लड़की उन्हें ठीक जँचती वही या तो ब्राह्मण निकलती या फिर क्षत्रिय या वैश्य। विवाह तय नहीं हो पाता था। बहुत परेशान थे। अन्त में एक ज्योतिषी ने 'विवाह-वृन्दावन' का श्लोक पढ़कर उनकी परेशानी दूर की कि 'मैत्री यदा स्यात् शुभदो विवाह:'। ग्रहमैत्री बनती हो तो और बातों का विचार नहीं किया जाता। 'मैत्री' मिल गयी थी। किसी प्रकार बला टली। अनाम की बातें वज़नदार लगती हैं।

बहुत सी आदिम जातियों में नाम छिपाने का प्रयत्न होता है। आदिम मनुष्य नाम और नामी की एकता में विश्वास रखता था। यदि नाम मालूम हो जाए तो कभी दुश्मनी से कोई अभिचार कर सकता है। 'देवदत्त मर जाए' कहने से देवदत्त मर नहीं जाता, यह बात तो अब लोग कहने लगे हैं! बहुत आदिम काल में सोचते थे कि अगर ध्यानपूर्वक जप किया जाए तो 'देवदत्त' पद नहीं, इस पद का अर्थ—पदार्थ—देवदत्त मर जाएगा। कोई चित्र

बनाकर उसकी छाती में छुरा भोंके तो छुरा उस चित्र के अर्थ में—जीवन्त मनुष्य में—लग जाएगा! अब लोग कहेंगे कि ये सब बेकार बातें हैं, पर अब भी गालियों में, अभिशाप में उसका अवशेष बचा है! और ज्योतिषी भी उसी पुरानी प्रथा से चल रहा है। दुनिया से कोई भी विश्वास एकदम ग़ायब नहीं हुआ है। रूप बदलकर वह जी रहा है। नहीं जीता होता तो अपने को 'प्रोग्रेसिव' या प्रगतिशील कहने और मानने वाले लोग विरोधी के पुतले क्यों जलाते, मुर्दाबाद के नारे क्यों लगाते? आदिम मनोवृत्ति जी ही रही है! ज़िएगी!

अनामदास नहीं जानते कि दुनिया यह नहीं पूछती कि क्या कहा जा रहा है, वह पूछती है, कौन कह रहा है! कौन अर्थात् नाम। बड़े-बड़े समालोचक नाम देखकर आलोचना लिखते हैं; परीक्षक निर्देशक का नाम तौलकर उपधिकारी की वैतरणी पार करा देते हैं! 'नाम' अनेक कामों को अपने में बाँधे रहता है। अब इस पोथे को पढ़ना होगा, फिर अगर अच्छा हुआ यानी मेरे मन-माफ़िक हुआ तो कहना होगा कि अनाम जी को कोई जानता तो नहीं, पर लिखते अच्छा हैं। फिर प्रकाशक नख़रे करेगा। राज़ी भी होगा तो कहेगा कि किसी नामी आदमी से प्रस्तावना लिखा दीजिए। महा झंझट है। सारी दुनिया नाम खोजती है। धर्म-ग्रन्थ तो नाम की महिमा से भरे पड़े हैं। सब झूठे हैं, सच्चे हैं महात्मा अनामदास!

मगर इस भले आदमी ने मुझे ही इस झकमारी के लिए क्यों चुना? बड़े-बड़े विद्वान् है, नेता हैं, राजपुरुष हैं, सेठ-साहूकार हैं; चाहें तो तिल का ताड़ बना दें, ताड़ का तिल बना दें! वहाँ जाओ। उनसे कहो, .मुझ ग़रीब को क्यों फाँसते हो? विश्वास देखिये कि आये थे समर्पण करने की अनुमति माँगने; लिख दिया, 'आपको समर्पित है जो चाहे कीजिए।' अजब समर्पण है! ऐसा समर्पण भी नहीं सुना। पढ़ना होगा। पता नहीं, क्या-क्या लिखा है? बात तो पते की थी। सिर खपाना बुरा नहीं होगा।

मुश्किल यह है कि हिन्दी में लिखना जितना आसान है, उतना पढ़ना नहीं। लोग फटाफट लिख देते हैं, पढ़ने वाला मग़ज मारता रहता है। व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि कुछ ऐसे लेखक हैं जिनकी एक पुस्तक बढ़कर समाप्त नहीं कर पाया तब तक उनकी चार पुस्तकें छप गयीं। अनाम भी कहीं वैसा ही लिक्खाड़ न लिकले! मगर अब डरने से भी क्या होगा! संस्कृत के एक अनुभवी कवि सलाह दे गये हैं कि डर से तभी तक डरना चाहिए जब तक डर सचमुच सामने आकर खड़ा न हो जाए—'तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम्' । और यहाँ तो भय सिर पर सवार है? पौथे से छुटकारा नहीं है।

पोथा पढ़ गया। अजब गप्पी है यह अनाम। अनुभव का क्षेत्र तो इसका बहुत सीमित लगता है पर उस सीमा के भीतर उछल-कूद कर सकता है। कभी-कभी तो ऐसा उछलता है कि लगता है अंगद-कूद करके ही मानेगा। कहते हैं, जब रामचन्द्रजी लंका विजय करके लौटे तो ससुराल गये थे और साथ में वानरी सेना भी गयी थी। लक्ष्मण जी सदा चिन्तित रहते थे कि कहीं लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ बन्दर कुछ ऐसा न कर बैठें कि ससुराल में भद्द हो। सो, सब समय सिखाते रहते थे—मुझे देखते रहो, मैं जैसा इशारा करूँगा वैसा

ही करना। बन्दर बिचारे भी क़ाफ़ी सावधान थे। सब समय देखते रहते थे कि लक्ष्मण जी क्या इशारा करते हैं। भोजन करने सब लोग बैठे थे। लक्ष्मण जी ने बहुत सावधान कर दिया था। अन्न देखकर ही न टूट पड़ना, मेरी ओर देखते रहना, जैसा इशारा करूँ वैसा करना। ससुराल का मामला है, गड़बड़ न होने पाये। राम की एक ओर सुग्रीव बैठे, एक ओर युवराज अंगद। लक्ष्मण जी कोने में सुग्रीव के बग़ल में थे। दायें, बायें, सामने वानर यूथाधिपति लोग। भोजन परसा गया। लक्ष्मण ने इशारा किया, चुप शान्त। सब वानर उनकी ओर दृष्टि बाँधे अधीर-भाव से प्रतीक्षा करते रहे। लक्ष्मण जी ने नींबू का टुकड़ा उठाया, उसे दबाया। एक बीज छटककर ऊपर उठा। बन्दरों ने समझा इशारा हो गया। पास वाला उचककर थोड़ा कूदा। धीरे-धीरे क्रम से एक-एक वानर उचकने लगा। थोड़ा और अधिक उचकने की होड़ लग गयी। अंगद की बारी आयी तो ऐसा उचके कि छत ही ले उड़े। राम-लक्ष्मण हैरान! यह क्या हो रहा है, मगर अंगद तो छत ले ही उड़े थे। इसी को अंगद-कूद कहते हैं। अनाम भी कभी ऐसी ही कुलाँचें भरता है। पर वह अंगद की भाँति छत लेकर नहीं उड़ पाता। छत से टकराकर नीचे ही आ जाता है। सीमा उसे अधिक बहकने नहीं देती। अनाम के भीतर सोया हुआ कोई कवि भी है। रह-रह कर वह जाग पड़ता है, पर न तो यह कवि उसके पूरे व्यक्तित्व को अभिभूत कर पाता है, न अनाम वैसा करने की उसे अनुमति ही देता है। बिचारा सोया कवि जागता है, फिर किसी अदृश्य चाबुक की चोट खाकर बेहोश हो जाता है। न मरता है, न मोटाता है। अनाम के भीतर का आलोचक सब समय गर्जन-तर्जन द्वारा उसका होश-हवास गुम करता रहता है। पर ऐसा लगता है कि यह आलोचक जितना गर्जन करता है उतना शक्तिशाली नहीं है। कालिदास ने अपने एक विदूषक से कहलवाया है कि जैसा साँपों में डुंडुभ होता है वैसा ही ब्राह्मणों में मैं हूँ। डुंडुभ बिलकुल निर्विष सर्प है। अनाम का आलोचक भी आलोचकों में डुंडुभ ही है। कहने क़ा मतलब यह है कि अनामदास के पोथे से लगता है कि उसके लेखक के भीतर का कवि सुप्त है, आलोचक अशक्त। फिर भी कोई बात है जो आकृष्ट करती है।

शायद यह और कुछ नहीं, उसका मात्रा-ज्ञान है। कहाँ रुक जाना चाहिए, कहाँ मुड़ जाना चाहिए, कहाँ तेज चलना चाहिए, यह अनाम को मालूम है। पर कितना नहीं लिखना चाहिए, यह नहीं मालूम। मालूम होता तो इतना न लिखता। अभी तो भलेमानस ने एक अच्छा-खासा महाभारत लिख मारा है। 'महाभारत' इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि जो इसमें है वही अन्यत्र मिल सकता है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं मिल सकता (यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्), बल्कि इसलिए कि यह बहुत भारी है—वज़नी! महाभारत में ही कहा गया है कि तराज़ू के एक पलड़े पर वेद रखे गये, दूसरे पर यह पाँचवाँ वेद रखा गया, यही वज़नी साबित हुआ। सो, 'महात्ताद्' भारवत्त्वाद् च महाभारतमुच्यते' महान् और भारवान् होने के कारण इस ग्रन्थ को 'महाभारत' कहा गया! मेरा अनुमान है कि हिन्दी की थीसिसों में जो सबसे भारी है—एक तो चौदह किलो का था ! —उससे भी यह भारी सिद्ध होगा। इसलिए इसे भी 'महाभारत' ही कहना चाहिए—महान् भार वाला पोथा! ऐसे

भारवान् पोथे को किसी पाठक के सिर पर पटकने का अपराध मैं नहीं कर सकता! इसलिए मैंने इस ग्रन्थ के कुछ अंश चुने हैं। उन्हीं को प्रकाशित कराके अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

हिन्दी में एक प्रथा है, हर त्रुटि के लिए सहृदय पाठक से क्षमा माँग ली जाती है। किसी पाठक की, लिखकर क्षमा देने की बात नहीं सुनी गयी पर इसके विपरीत भी कहीं कुछ नहीं सुना गया। अनुमान है कि हिन्दी का हर पाठक क्षमासिन्धु है। क्षमा माँगते ही वह उदार-भाव से मौन क्षमा प्रदान कर देता है। अनाम यह जानते हैं। क्षमा माँगने की उन्हें ज़रूरत नहीं महसूस हुई। जो बात अनायास मिल जाती है वह बिन माँगे भी मिल ही जायेगी। परन्तु मैं पाठकों से सहानुभूति की याचना अवश्य करना चाहता हूँ। कितना कठिन कर्त्तव्य निभा रहा हूँ, यह सब नहीं समझ सकेंगे। कुछ भुक्तभोगी ही इस बात को समझ सकते हैं। मेरा समानाधर्मा भुक्तभोगी शायद होगा ही नहीं कहीं। तब भी मैं याचना कर ही देता हूँ। दोष क्या है? बहुत होगा, नहीं मिलेगी। मिल भी जाये तो कौन-सा भाण्डार मिलता है, न भी मिले तो क्या नुक़सान हुआ जाता है!

हजारीप्रसाद द्विवेदी (जन्म : 1907) हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नयी परंपरा के अन्यतम हस्ताक्षर हैं। ये लंबे समय तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय और शांति निकेतन से संबद्ध रहे। अनेक प्रतिष्ठित संस्थाओं के सम्मानित अधिकारी रहे और विभिन्न उपाधियों से विभूषित हुए। हिंदी साहित्य के अविच्छिन्न विकास परंपरा में इन्होंने समीक्षा को एक नयी दिशा दी। द्विवेदी जी के निबंधों में अत्यंत मामूली बात भी तर्क और वर्णन के संयोग से बड़ी बात हो जाती है। गहन-गंभीर और दर्शन-प्रधान बात भी यहां मनोरंजक और सहज, सरल, सुबोध हो जाती है। इनका रचना संसार बहुत विशाल है। इन्होंने जो कुछ भी लिखा उच्च श्रेणी का लिखा। प्रस्तुत पुस्तक में इनके ऐसे निबंधों को संकलित किया गया है जो संक्षेप में पाठकों को इस कालजयी रचनाकार का परिचय दे सके।

संकलन के संपादक प्रो० नामवर सिंह (जन्म : 1927) हैं। इन्होंने कविता से अपना साहित्यिक जीवन आरंभ कर मुख्य कार्य-क्षेत्र आधुनिक साहित्य की आलोचना को बनाया। **साहित्य अकादमी** पुरस्कार तथा **शलाका सम्मान** पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य कतिपय सरकारी, गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा समय-समय पर सम्मानित हुए। **जनयुग** तथा **आलोचना** का संपादन कर इस क्षेत्र में भी एक मानदंड स्थापित किया।

रु. 27.00

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया